Chapter-6

अध्याय : ६ :

अज्ञेय के ललित निबंधों का अनुशीलन

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में अज्ञेय अपनी प्रखर बौद्धिकता, अभिजात्य स्वातंत्र्यभावना तथा चिर अन्वेषी एवं सतत गतिशील व्यक्तित्व के लिए विख्यात हैं। वे हिन्दी के मूर्धन्य साहित्य कारों में से हैं। उनकी रचनाएं चाहे वह उपन्यास हो या कहानी, निबन्ध हो या कविता अपनी निजता और वैशिष्ट्य के कारण सामान्य से अलग उच्चतर कलाबोध की गरिमा से मंडित प्रतीत होती है। वे हिन्दी कविता के युग-प्रवर्तक तो है ही। हिन्दी उपन्यास को मानवमन की गहराईयों तक पहुंचाने का श्रेय भी उन्हें ही है। इतना ही नहीं हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को नया मोड़ देनेवालों में अज्ञेय जी का शीर्षस्थ स्थान है। आज के युग में एक ही व्यक्ति के भीतर जो बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आये हैं। उनके भीतर की अतल गहराइयों में जो संघर्ष चल रहा है उसे मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में पूरी ईमानदारी के साथ पहचानने की तड़प ही उनके उपन्यासों की मूल प्रेरणा है। हिन्दी की लघु गद्य विधाओं को समृद्ध करने का श्रेय भी अज्ञेय को ही जाता है। 'भवन्ती' और 'अंतरा' उनकी अंत:प्रक्रियाओं का संकलन है जो हिन्दी गद्य में नवीन विधा की रचनाएं हैं इतना ही नहीं उनकी ये अंत: प्रक्रियाएं न केवल हिन्दी गद्य की एक नवीन विधा के रूप में बल्कि हमारे साहित्यचिंतन की एक विशिष्ट कड़ी के रूप में भी उल्लेखनीय है। उनके कविरूप को देखें तो अज्ञेय का कवि रूप काव्य क्षेत्र में एक प्रज्वलित दीपस्तम्भ के समान प्रतिष्ठित है। वे नयी कविता के अगुआ और उसके प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने अपने काव्य में उन छन्दों का भी प्रयोग किया है जिनका न तो शास्त्रीय चोला बदल गया है। और न उनके प्राणों को कोई नया संस्कार दिया गया है। वे एक आविष्कर्ता प्रयोगशील कवि के रूप में भी प्रकट है। अज्ञेय ने अपने काव्य में छन्दों के समान ही प्रतीकों, उपमान और बिम्बों के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी प्रयोगात्मक प्रगति की है। बिम्बों के क्षेत्र में आज नयी कविता जिस दिशा में अग्रसर है उस दिशा के निर्माण में अज्ञेय की कलम ने सबसे अधिक काम किया है। हिन्दी के नये कवियों में अज्ञेय ही सबसे पहले

कवि हैं जिन्होंने भाषा की संकुचित केंचुल को फाड़कर उसमें नया व्यापक और - सारगर्भित अर्थ भरना चाहा । अज्ञेय के इस प्रयोगशील कविरूप के समान ही उनका गद्यलेखक का रूप भी प्रयोगों की धारा पर अवतीर्ण हुआ है । गद्यकार के रूप में अज्ञेय ने कथा साहित्य और निबंध साहित्य की सर्जना की है । कथ्य और कथन के क्षेत्र में जो प्रयोग हो रहे हैं उनसे हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा मिली है। अज्ञेय इस नयी दिशा के अग्रणी हैं। इतना ही नहीं उन्होंने अपने कथा साहित्य में वस्तु चयन से लेकर शैली तक जो प्रयोग किये है उनमें प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं । विज्ञान के युग में जहां जीवन के हर क्षेत्र में संघर्ष और अनास्था पनप रही है वहां बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुखी हो जाना स्वाभाविक है । आज का व्यक्ति वैचारिक अधिक है। अत: अज्ञेय की वस्तु चयन की प्रवृत्ति व्यक्तिवादी दृष्टि युगीन जीवन से संपृक्त है । उनकी कहानियों का वस्तु आधार भी नितान्त वैयक्तिक है । वस्तु चयन की भांति ही अज्ञेय ने अपने कथा साहित्य में चरित्रों की अवधारणा उनके प्रति दृष्टि और उनको चित्रित करने की शैली में भी क्रान्तिकारी एवं अभूतपूर्व प्रयोग किये हैं । अज्ञेय का सफल प्रयोगशील कथाकार ही नहीं अपितु एक सफल प्रयोगशील निबंधकार भी हैं । यद्यपि उनका निबंध साहित्य अल्प है, लेकिन प्रयोगों की बहुलता में आधुनिक हिन्दी निबंध साहित्य को जिन नयी दिशाओं का संकेत किया है वह साहित्यिक दृष्टि से अभूतपूर्व दिशाएं हैं जिनकी ओर आज नया साहित्य उन्मुख है ।

अज्ञेय के आत्मनेपद, संवत्सर, आलवाल, भवन्ती, लिखि कागज कोरे आदि निबंध संग्रहों में एक अत्यन्त सजग एवं संवेदनशील रचनाकार की आज के परिवेश के प्रति ऐसी रागदीप्त किंतु खरी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है जो हमारी चेतना को झंकृत करके हमें क्रियाशील होने की प्रेरणा देती है । विषय की दृष्टि से अज्ञेय के निबंधों में किसी प्रकार की विविधता दृष्टिगोचर नहीं होती। लगभग सभी निबंधों का विषय साहित्य से सम्बंधित है । प्रकृति, समाज, राजनीति, धर्म, मनोभाव आदि

विभिन्न प्रकार के विषय साहित्य के संदर्भ में ही विवेचित हो गये हैं । अज्ञेय जब अन्य विषयों पर दृष्टिपात करते हैं तो वे उनका साहित्य के साथ ऐसा गठबंधन जोडते चलते हैं कि साहित्य के सम्मुख अन्य विषय अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा नहीं कर पाते हैं । `आलवाल` में संग्रहीत निबंधों में समय-समय पर लिखे गये भाषणों, वक्तव्यों, भेंट-वार्ताओं तथा प्रश्नोत्तरों के लिखित रूप हैं। इन निबंधों की भावभूमि चिंतनपरक है । इस संग्रह के कुछ निबंधों में भारतीय साहित्य की प्रकृति को समझने का प्रयास है । कुछ में लेखक की स्थिति और उसके वर्तमान परिवेश का विवेचन है। कुछ में आधुनिकता । समकालीनता तथा नए साहित्य सम्बंधित अन्य प्रश्नों की व्याख्या की गई है और कुछ में जीवन एवं कला को प्रभावित करनेवाले शाश्वत तत्वों का विश्लेषण है । स्फुट रूप से लिखे गए होने पर भी इन निबंधों में अज्ञेय के चिंतनक्रम को रेखांकित करनेवाले उन बिंदुओं को लक्षित किया जा सकता है जो उनके समूचे रचना संसार में व्याप्त है - और उनके व्यक्ति तत्व को एक इकाई प्रदान करते हैं। उनका दूसरा निबंध संग्रह `आत्मनेपद` है जिसमें अधिकांश निबंध आत्मपरक हैं। इन निबंधों में लेखक के निजी जीवन और कृतित्व की अभिव्यक्ति है । प्राय: सभी निबंध अज्ञेय की वैयक्तिक चिंतनाभूमियों और निजी मान्यताओं का आलम्बन ग्रहण किए हुए हैं। `लिखि कागद कोरे` में संकलित निबंध दो भिन्न मन:परिस्थितियों के साक्षी हैं । इसमें कुछ निबंध के विषय स्वयं अज्ञेय है । इनमें उनकी रुचि, प्रवृत्ति, संस्कार, स्वीकृति, सपने, दावे और स्मृति आदि घटनारूप में व्यक्त हुई है और कहीं तो आधुनिक काव्य के विषय में समय-समय पर उठनेवाले प्रश्नों के सम्बंध में अज्ञेय के निजी विचार व्यक्त हुए हैं । अज्ञेय लिखते हैं कि `समय-समय पर लिखे गए ये आत्मपरक निबंध या बोले गए प्रश्नोत्तर इस संग्रहीत रूप में भी पाठक को रुच सकते हैं। सुलझे हुये पाठक को थोड़ी देर उलझाये रख सकते हैं और उलझे हुए पाठक को अपने को उलझाने में कुछ मदद दे सकते हैं ।` उनके `भवन्ती` निबंध संग्रह के निबंध निबंधों के सामान्य परिचित स्वरूप से भिन्न प्रकार के हैं । यह अज्ञेय के सृजनशील मानस का `लाग बुक` है । अज्ञेय ने

अपनी जीवन यात्रा के क्रम में अनेक प्रकार के भावानुभावों का संग्रह किया है, भोगा है, और उनमें मुक्त हुए हैं। `भवन्ती` संग्रह भोग और मुक्ति की सतत प्रक्रिया का आलेख है।

विषय-वस्तु :

साहित्यिक निबंध -

~~`शब्द, मौन और अस्तित्व`[1] शीर्षक निबंध में~~ `आलवाल` संग्रह के अनेक निबंध साहित्यिक कोटि में आते हैं। शब्द मौन और अस्तित्व शीर्षक निबंध में निबंधकार के अनुसार शायद कलामात्र में जो शक्ति सृजन की प्रेरणा बनती है वह यही तनाव है। जाने हुए उत्तर और दिये जा सकनेवाले उत्तर के बीच का तनाव। लेखक इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है। नया अनुभव नया तनाव पैदा करता है। ज्ञान के क्षेत्र के विस्तार के साथजाने हुए उत्तर और दिए जा सकनेवाले उत्तर के बीच नयी दूरी पैदा हो जाती है। निबंधकार कहते हैं कि इस प्रकार एक लेखक के नाते में कला सृजन के माध्यमों में सबसे अधिक बेध्य माध्यम का उपयोग करता हूं- ऐसे माध्यम का जिसको निरन्तर दूषित और संस्कारच्युत किया जाता रहता है। बोले बिना सामाजिक नहीं हुआ जा सकता। भाषा को ही यह चिन्त्य विशिष्टता प्राप्त है उसे निरन्तर और अनिवार्य हीनतर संस्कार का शिकार बनना पडता है। किसी भी कला माध्यम का जितनी उसकी क्षमता है उससे कम कहने के लिए उपयोग करना उसे घटिया संस्कार देना है। निबंधकार के अनुसार कविता भाषा में नहीं होती, शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है। अज्ञेय कहते हैं कि कवि के नाते भी मैंने कुछ मूल्यों पर आग्रह करना आवश्यक समझा है। बात को यों कहने में लग सकता है कि लेखक की परिस्थिति बड़ी संकटपूर्ण और अप्रीतिकर है। वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में उसकी परिस्थिति अत्यन्त रूचिकर और रसमय है। यहां पर निबंधकार ने एक दृष्टान्त दिया है जिसका समकालीन अर्थ है मानव नियति का। उसके

आधुनिक पश्चिमी अस्तित्ववादी निरूपण की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा प्रतिबिम्ब है। उदाहरण के लिए 'बाघ से बचने के लिए एक म मनुष्य पेड़ पर चढ़ता है और उसकी दूरतम शाखा तक पहुंच जाता है। उसके बोझ से शाखा झुककर उसे एक अन्धे कुएं में लटका देती है। ऊपर दो चूहे शाखा को काट रहे हैं, नीचे कुएं में अनेक सांप फुफकारते हुए उसके गिरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस अत्यन्त संकटापन्न परिस्थिति में वह देखता है कि कुएं की जगत से घास की एक पत्ती उसकी ओर झुकी हुई है और उसकी नोंक पर मधु की एक बूंद कांप रही है वह जीभ बढ़ाकर मधु चाट लेता है- और कितना सुस्वादु है वह मधु। हम सभी ने, प्रत्येक ने अपने अलग ढंग से मधु का स्वाद जाना है जो कि हमारा जीवन है।'[1] और दृष्टान्त का सार यही होता है- कि यह 'चरम परिस्थिति कोई ऐसी चरम परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वह सार्वलौकिक है। साधारण है। महत्व की बात इसके प्रति चेतन होना ही है, पहचान होते ही व्यक्ति की उपस्थिति व्यापक सार्वलौकिक अवस्थिति से एकात्म हो जाती है और हमारी तात्कालिक चिन्ताएं उस एक चरम चिन्तन में परिणत हो जाती है जो कि आधुनिक व्यक्ति के लिए 'आस्था' विश्वास, धर्म या कुछ भी नाम दे दे उसका पर्याय है।

'लेखक और परिवेश'[2] शीर्षक निबंध में लेखक और परिवेश के बारे में लिखा गया है। परिवेश बदलता है, और उसके साथ मूल्य बदलते हैं। परिवेश यानी देश-काल। विज्ञान का कहना है कि दुनिया दिन-ब-दिन छोटी होती जाती है, वह एक अर्थ में सही है। लेकिन साहित्य में यह बात सच नहीं है। हर बड़ा लेखक दुनिया को थोड़ा और बड़ा करके अपने परवर्तियों को दे जाता है। अनुष्ठान द्वारा नयी भूमि को अपने संसार में प्रतिष्ठित कर लेने पर एक नया, अपेक्षया बड़ा आयाम और सम्बंधों की दृष्टि से कुछ बदला हुआ संसार परिवेश मिल जाता था। प्राचीन लेखक का विश्व-परिवेश सदैव स्थितिशील होता था। सभी सम्बंध भी गतिशील हैं। यानी (निबंधकार का) मेरा जो परिवेश है वह एक असंतुलन से दूसरे असंतुलन तक का है। जितना ही सफल

लोकप्रिय लेखक है उतनी ही जल्दी वह अपना परिवेश बन जाता है उदाहरण के लिए गुलशननन्दा और प्यारेलाल, मुद्रा राक्षस और प्रभाकर माचवे भी उसी प्रकार अपना परिवेश आप हो गये हैं- जिस प्रकार धर्मवीर भारती और मोहन राकेश या इन्द्रनाथ मदान और नगेन्द्र, बच्चन, और दिनकर या देवराज और सुमित्रानन्दन पन्त । परिवेश का व्यूह पूरी तरह पहचानने के लिए एक दीवार और देखनी है । यहां सभी परिवेश हैं, परिवेश ही परिवेश हैं । पर इतना शायद निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस संकटग्रस्त अस्मिता का बोध सब आधुनिकों को है । क्या ये सब प्रतिक्रियाएं और वाद तथा नकार की मुद्राएं उबरने के रास्ते हैं ? कर्म के द्वारा अस्मिता की उपलब्धि कर्म में अस्ति की पहचान, रास्ता तो है, पर यह साहित्य कर्म से अलग ले जाने वाला रास्ता है । अस्ति की पहचान का सबसे अच्छा रास्ता कर्म में उसकी पहचान का है। आज भी कुछ ऐसे लेखक हैं जो अभी सन्दर्भ में जीते हैं,परिवेश की उनकी संकल्पना उसी अर्थ में स्थितिशील है ।

'लेखक की स्थिति'[3] शीर्षक निबंधानुसार भारतीय लेखक भारतीय पाठक के सम्मुख बोलने खड़ा होगा ~~तब~~ तो अधिकतर अजनबी की स्थिति में, क्योंकि भारतीय पाठक पाठक तो हैं, लेकिन भारतीय लेखक का पाठक नहीं है । मुख्यतया विदेशी साहित्य का पाठक हैं, भले ही अनुवाद के माध्यम से । जो जितना ही गहरा और गंभीर लेखक है वह अपने पाठक के बारे में उतना ही अज्ञ है- लेकिन सच पूछें तो क्या आज का समूचा साहित्य ही अंधकार में एक चीख नहीं है । इतना ही नहीं यह स्थिति हमारी राजनीति की वर्तमान अवस्था में दिन-दिन विकटतर होती जा रही है । सभ्य और संस्कृतगर्वी संसार में शायद आज ऐसा दूसरा देश नहीं है जिसका साहित्यकार इतनी विषम परिस्थिति में लिखता हो । हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो या हो सकती है इस सम्भावना को लेकर जो विवाद और वैमनस्य लगातार बढ़ता

गया है उसका दण्ड हर हिन्दी लेखक को मिलता है । इतिहास के परिप्रेक्ष्य में आज के लेखक को देखना भी उपयोगी होगा । आज पश्चिम का लेखक उस वर्ग में गिना जाता है जिसे बौद्धिक कहा जाता है । इतिहास और परम्परा के बावजूद लेखक को `कविर्मनीषी को- बौद्धिक होना ही है । बौद्धिक होकर उसकी निर्मम बुद्धि से इतिहास और परंपरा का मूल्यांकन करना है । भारतवासियों में अगर इतिहास बोध की कमी है तो उसे उस कमी की पूर्ति वह एक अत्यन्त सजग और समग्र स्थिति बोध से कर लेता है । उसकी प्रतिभा प्रत्युत्पन्न मति की प्रतिभा है और ऐसा प्रत्युत्पन्न कभी दूसरे समाजों और संस्कृतियों में दुर्लभ ही होगा । `साहित्य की भारतीय कसौटी`[4] शीर्षक निबंधानुसार भाषा को सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा अधिक समर्थ माध्यम कहा गया है । राष्ट्रीय भावना जितनी राजनीतिक एकता को प्रतिबिम्बित करती है। उससे कहीं अधिक ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना को वाणी देती है । समान दृष्टि से देखना ही असमान व्यवहार को अनिवार्य बना देता है । `साहित्य अकादमी` जो अपने को, नेशनल एकैडेमी आफ लैटर्स` कहती है तब तक `नैशनल` नहीं हो सकती जब तक कि वह प्रादेशिक बुद्धि से उपर उठकर राष्ट्रीय बुद्धि से भी विवेक नहीं कर सकेगी । विश्व-साहित्य की पंक्ति त में वही भारतीय साहित्यकार बैठ सकेगा ; जो पहले राष्ट्रीय साहित्यकार हो । जिसकी कृति में समूची भारत जाति और समन्वित भारतीय संस्कृति बोलती हो ।

`उपन्यास की भारतीय विधा`[5] निबंधानुसार उपन्यास मूलत: एक कालबद्ध रचना है । काल में घटित का ही रूपयुक्त वृतान्त उपन्यास है इसलिए अगर कालबोध भिन्न है तो उपन्यास का रूप भी भिन्न होगा, अगर उपन्यास रूप एक विशिष्ट है तो कालबोध भी विशिष्ट होगा । आधुनिक उपन्यास वास्तव में पश्चिमी उपन्यास है । हर भारतीय भाषा में उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम है ।

पश्चिमी शोर्ट स्टोरी और भारतीय कथा में ये दो अलग-अलग कालबोध प्रतिबिंबित और परिलक्षित होते हैं। 'कविता: श्रव्य से पठ्य तक'[६] निबंधानुसार कलाओं में वांगमय की प्राथमिकता भारतीय परंपरा का एक अभिन्न अंग रही है। वेदों की तेजोमयी वाक् की अपेक्षा रामायण की हृदयहारिणी कल्याणी वाक् ही काव्य का सक्षिध और साधन रही। संस्कृत में भी कवि, कर्म, क्रमश: अधिकाधिक आत्मचेतन होता गया है। जहां कवि पूरी तरह सफल हुआ है वहां एक चिरविस्मरणीय और समग्र काव्यस्तु हमारे लिए छोड़ गया है। वांगमय के क्षेत्र में इसका अर्थ था लौकिक काव्य के विभिन्न रूपों का विकास। निस्सन्देह यह 'अनभिजात' सामान्य लौकिक परंपरा भी पहले से चली आ रही थी। प्राचीन काल की भांति अब काव्य क्षेत्र का सम्बंध यज्ञभूमि से नहीं रहा था। पर काव्य का आस्वादन श्रोताओं द्वारा समूह में हो यह न केवल संभव था वरन् यही आस्वादन की साधारण और स्वाभाविक स्थिति थी। काव्य की रचना के बाद काव्य का वांचन ही सबसे वांछनीय गुण था। मोटे तौर पर काव्यास्वादन की हीं यही अवस्था थी जब भारत में मुद्रण यंत्र का आर्विभाव हुआ। यहां काव्य का अर्थ काव्य ही है अर्थात् ऐसा वांगमय जो कल्पना प्रसूत था और जिसका लक्ष्य हृदय और बुद्धि को तृप्ति देना था। केवल आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना नहीं। सारा साहित्य मुद्रित होने पर भी वाचिक परंपरा का ही साहित्य था। यों तो छपाई-यांत्रिक आवृत्ति की सुविधा ने दूसरी कलाओं पर भी प्रभाव डाला। पर यह प्रभाव किसी कला के लिए इतना गहरा या इतना व्यापक नहीं हुआ जितना कविता के लिए। वाचिक परम्परा की कविता कभी एक वस्तु नहीं होती। छपी हुई कविता वस्तु होती है। वाचित-श्रुत परम्परा में श्रोता इतर व्यक्ति है। संप्रेषण एक प्रक्रिया है जो एक सजीव, प्रत्यक्ष, व्यक्तिरूप मूर्त इकाई की ओर प्रवहमान होती है। श्रुत परम्परा का आभ्यन्तर श्रोता स्वभाव, रुचि अनुभूति और संस्कार की दृष्टि से कवि से पूर्णतया एकात्म है। वह कवि का ही प्रतिरूप है, आत्म स्वरूप है। भारतीय वाचिक परम्परा का छन्द शास्त्र की दृष्टि

से निरीक्षण करें तो दीखता है कि छन्द का नियंत्रण क्रमश: अधिक कड़ा होता गया और फिर गेयता की ओर विशेष झुकाव देखा गया । नयी भाषा की खोज सबसे पहले कवि और काव्य रसिक के एक नये सम्बंध की पहचान हो सकती है और संगीत रचा जा सकता है अब कवि या संगीतकार की क्या आवश्यकता है ? पर जहां तक कम्पूटर द्वारा कविता के निर्माण की बात है वह स्मरण रखना आवश्यक है कि वैसी आयोजित कविता पहले से निर्धारित विकल्पों के आधार पर बनती है ।

`विज्ञान और हम`[7] शीर्षक निबंध में विज्ञान और तकनीकी हमारे जीवन की परिपाटी को आमूल बदल दे रहे हैं । यह भी मानते हैं कि तकनीकी प्रगति ही हमारे युग के संकटों की जड़ है क्योंकि उसी के कारण परिवार का विघटन हुआ है। तकनीकी विज्ञान की संतान तो है पर ऐसी संतान जो पितरों के बिना भी उत्पन्न हो सकती है और पितरों के आविर्भाव से पहले भी मौजूद थी । वास्तव में अध्यात्म तत्व में भी गहरा परिवर्तन हुआ है । और धर्म के अथवा श्रद्धा के, मूल्य कुछ हो सकते हैं तो विज्ञान से अलग ही हो सकते हैं । धर्म और विज्ञान की कसौटियां - न एक दूसरे को सच्चा साबित कर सकती है, न झूठा- दोनों के जीवन वृत्त अलग-अलग हैं और उस बिन्दु पर केवल स्पर्श करते हैं जिस पर हम खड़े हैं । हम मानते हैं कि इन्सान बुनियादी तौर पर अच्छा है तो अच्छा बना रह सके जो सत्य है वह सत्ता के रूप में प्रकट हो सके । `मानव: प्रतीक-स्रष्टा`[8] निबंधानुसार विवेक मानव के लिए एक चुनौती है । चुनौती, आहूत व्यक्ति पर एक उत्तरदायित्व डालती है । पशु और मानव में इतना ही मौलिक अन्तर है कि मानव प्रतीक स्रष्टा प्राणी है- `होमोसिम्बोलिकम्` । मानवेतर सभी प्राणी जिन्होंने प्रतीक सृष्टि की यह प्रतिभा नहीं पायी है । मुक्त होने का अर्थ यही है कि उसकी सम्भावनाएं निर्बन्ध और पूर्व कल्पनातीत हो जाती हैं । मानवेतर प्राणियों का जीवन लगभग शुद्ध गोचर अनुभवों और उनकी प्रतिक्रियाओं तक सीमित होता है, तो उसमें एक प्रकार की सुरक्षा भी होती है । गोचर अनुभव

झूठे नहीं होते । यानी मानव ही पहला प्राणी है जो अनुभव के क्षेत्र में गलती कर सकता है । मानव प्रतीक स्रष्टा हैं, इसलिए अनन्त सम्भावना सम्पन्न है, मुक्त है। यह संस्कारवान् मानव की नियति में निहित है । स्वतंत्रता से उसका छुटकारा नहीं है । कुछ प्रतीक स्थायी या दीर्घकालिक हैं। कुछ केवल तात्कालिक महत्व के हैं । कुछ केवल प्रादेशिक या आंचलिक, कुछ प्राकृतिक प्रतीक है जो इसीलिए भी 'शाश्वत' भी माने जाते हैं । कुछ पारम्परिक हैं । संस्कृतियों के उदय विलय का इतिहास बहुत कुछ उनके पूजित प्रतीकों के विकास-ह्रास का इतिहास होता है ।

'काल का डमरू नाद'[६] शीर्षक निबंधानुसार आधुनिक पश्चिमी जीवन के व्यवहार में एक और वस्तु भी हमारी परिचित है जिसका आधार इस चिन्ह से मिलता है वह है बालू घड़ी जिसे हम निरन्तर उलटते-पुलटते चलते हैं। काल की यह नाप जिसमें प्रत्यावर्तन की गुंजाइश है, प्रकारान्तर से आवर्तीकाल को स्वीकार करती हुई चलती है। उसका आकार गणित के चिन्ह से मिलता-जुलता है । मदारी के हाथ में डमरू देखकर आपको नहीं सूझा होगा कि यह कितना सार्थक प्रतीक है । पर नटराज की मूर्ति के हाथ के डमरू को काल प्रतीक पहचानने में भी आप न चूके होंगे । यहां पर डमरू को सृष्टि का और अग्नि को विलय का प्रतीक कहा गया है क्यों ? काल डमरू मृत्यु की याद दिलाता है जीवन का नहीं ।डमरू का नाद ब्रह्म का भी संकेत दे सकता है और सृष्टि का प्रतीक है । डमरू सृष्टि का प्रतीक है जिसे काल के आयाम में सत्ता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । कालजीवी प्रतीक के रूप में डमरू ~~कन~~ न केवल नटराज मूर्ति के प्रतीक रूप वरन् सार्थक रूप से उसका अंग बन जाता है । काल प्रतीक के रूप में डमरू की कटि वर्तमान है । कालजीवी हम सदैव वर्तमान पर स्थित रहते हैं। कालचेतना अनु या प्रति-गति की ही चेतना है। भविष्य की ओर गति या अतीत से परे गति है । स्मृति है अथवा प्रतीक्षा है ।' यैट्स ने प्रत्येक शंकु को हर राशियों में बांटा है । यह स्पष्ट है कि वर्तमान काल भूतकाल, और भविष्यकाल के बीच में है ।

लेखन पर इस कालदर्शन का प्रभाव होने के लिए इतना पर्याप्त है कि लेखक के संस्कार में उसका योग हो । भारतीय आख्यान साहित्य मूलत: आवर्ती रहा है । आवर्ती कथा ही विश्व के आख्यान साहित्य को भारत की विशिष्ट देन है । ऐसा भी आधुनिक भारतीय साहित्य मिलेगा जिसमें कालगति द्विविध बोध क्रियाशील दीखता है । एक ओर आवर्तीकाल का बोध है दूसरी ओर एकान्त ऐतिहासिकता का भी । पश्चिम में आधुनिक उपन्यास के विकास में क्रमश: जो आन्दोलन आये हैं उनमें इसके समानान्तर काल चिन्तन मिल सकता है किन्तु समान नहीं । यह कदाचित लक्ष्य करने की बात है कि काल प्रतीक के रूप में डमरू मृत्युन्मुखता का प्रतीकत्व नहीं करता । 'काल की जिस गति को वह संकेतित करता है , वह पश्चिम की एकदिक्, अप्रत्यावर्तनीय काल गति नहीं है, पश्चिमी अवधारणा की समस्या को वह बिलकुल बचा जाता है । काल एक सुदूर आरम्भ बिन्दु से आरम्भ करके एक अन्त तक नहीं जाता। वह वर्तमान की चेतना से आरंभ होता है- वर्तमान के अद्यतन क्षण से, और उसकी गति दोनों ओर हो सकती है ।' फलत: काल के समीक्षण सर्वदा वर्तमान हैं । सहकालिक हैं, अतीत अथवा भविष्य का परिप्रेक्ष्य किसी घटना के आत्यन्तिक रूप से 'हो गयी' या 'होनेवाली' होने पर निर्भर नहीं करता ।

'प्रतीकों का महत्व'[१०] निबंधानुसार जिस प्रकार अच्छी समीक्षा अच्छे साहित्यकार पर निर्भर करती है। उसी प्रकार अच्छे साहित्य के निर्माण के लिए अच्छी समालोचना भी आवश्यक शर्त होती है । साहित्य का रसास्वादन करने के लिए यह आवश्यक है । न केवल अनासक्त, असम्पृक्त साहित्य सेवा की दृष्टि से वरन् स्वयं अपने लेखन को ठीक परिपार्श्व में रखने के लिए वह उपयोगी होगा । साधारणत: आधुनिक कविता के बारे में जो गलतफहमियां हो सकती है या फैलायी जाती हैं इस पर निबंधकार के कुछ विचार प्रस्तुत हैं । कहा जाता है कि प्रतीकों को महत्व देना प्रतीकवाद है और यह ह्रासशील प्रवृत्ति है । प्रतीकवाद एक तो मुर्दा है- दूसरे विदेशी मुर्दा

है । जन-साहित्य सदा से और सबसे अधिक प्रतीकों और अन्योक्तियों के सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है । यह चीज हम संस्कृत में पाते हैं । वेदों से लेकर वाल्मीकी तक और वाल्मीकी से लेकर कालिदास तक भी । 'प्रतीक और सत्यान्वेषण'[११] निबंधानुसार जीवन प्रेम का अर्थ हर आलोचक के लिए ही नहीं हर जीनेवाले के लिए अलग-अलग होता है । क्योंकि जीवन वास्तव में निरी एक होने की क्रिया का, नैसर्गिक व्यापारों के अनुक्रम का नाम नहीं है। जीवन उनके होने के बोध का नाम है। जीवन व्यापारों के साथ जीनेवाले का सम्बंध सबका अपने अपने ढंग का होता है। इसीलिए जीवन प्रेम भी हर किसी का अलग-अलग होगा ही । यहां पर प्रतीक को सत्यान्वेषण का साधन कहा है । जीवन---------- स्वप्नों और आकारों का एक रंगीन और विस्मय भरा पुंज है । हम चाहें तो उस रूप से ही उलझे रह सकते हैं पर रूप का यह आकर्षण भी वास्तव में जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का ही प्रतिबिम्ब है- ठठ

हम निहारते रूप,
कांच के पीछे हांप रही है मछली,
रूप तृषा भी (और कांच के पीछे) है जिजीविषा

मछली का प्रतीक कोई नया नहीं है । किन्तु प्रतीकों के द्वारा ज्ञान की खोज अपने आप में एक बड़ा कौतुहलप्रद विषय है । कवि मछली की दौड़ से सागर की गहराई मापता है- वह प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है सत्य के अथाह सागर में वह प्रतीक रूपी कंकड फेंकर उसकी थाह का अनुमान करता है । कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है, वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है । आज काव्य के पाठकों की जीवन परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है । एक ही सामाजिक स्तर के पाठकों की जीवन परिपाटियां इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उनकी विचार संयोजनाओं में समानता हो ही नहीं।

ऐसे शब्द बहुत कम हों जिनसे दोनों के मन में एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों। कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है। कवि क्रमश: अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए। सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना सृष्टि को वह पाठकों तक अक्षुण्ण पहुंचा सके। 'प्रयोग और प्रेषणीयता'[१२] निबंध में कवि क्रमश: अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें, अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्त: सुखाय' लिखता है या लिख सकता है। यह स्वीकार करने में कवि ने अपने को सदा असमर्थ पाया है। आत्माभिव्यक्ति का महत्व उनके लिए भी किसी से कम नहीं है। ऐसा प्रयोग अनुज्ञेय नहीं है जो 'किसी की किसी पर अभिव्यक्ति' में धर्म को भूलकर चलता है। जिन्हें बाल की खाल निकालने में रुचि हो वे कह सकते हैं कि यह ग्राहक या पाठक कवि के बाहर क्यों हो - क्यों न उसी के व्यक्तित्व का एक अंश दूसरे अंश के लिए लिखे ? जो व्यक्ति लिख रहा है और जो सुख पा रहा है, वे फिर भी पृथक भाषा उनके व्यवहार का साधन है।

'नदी के द्वीप क्यों और किसके लिए ?'[१३] निबंध में भूमिका नहीं है। उपन्यास में उपन्यासकार को जो कहना है वह उपन्यास से ही प्राप्य होना चाहिए। ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने कृति से बड़ी भूमिकाएं लिखी हैं। 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है। व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। हम चाहें तो व्यक्ति को जैसा वह है वहीं से ले सकते हैं, उस बिन्दु से आरंभ करके उसकी गतिविधि को देख सकते हैं। पहले में सामाजिक शक्तियों को निहित मानकर चलते हैं और व्यक्ति चरित्र ही सामने होता है, दूसरे में व्यक्ति गौण और

सामाजिक शक्तियां ही प्रधान पात्र हो जाती है । `नदी के द्वीप` व्यक्ति चरित्र का ही उपन्यास है । घटना प्रधान उपन्यास वह नहीं है । उसमें पात्र थोड़े हैं, चार संवेदनाओं का अध्ययन है। उसमें जो विकास है वह चरित्र का नहीं संवेदना का ही है । `नदी के द्वीप` एक दर्दभरी प्रेम कहानी है । यह समाज के जीवन का नहीं, समाज के एक अंग के जीवन का चित्र है । वास्तव और आदर्श में कोई मौलिक विरोध नहीं होता यह कहना आवश्यक नहीं है । आदर्श के दो सूत्र कथा में है। चरित नायक भुवन एक को ध्वनित करता है तो मुख्य स्त्री पात्र रेखा दूसरे को । अंत में निबंधकार कहते हैं कि `नदी के द्वीप` मैंने किसके लिए लिखा है ? वे जवाब में कहते हैं कि `अपने लिए`, अर्थात् अपने को यह बात सप्रमाण दिखाने के लिए कि मेरी आस्था, मेरी निष्ठा, मेरी संवेदना जाल की संपूर्णता और सच्चाई, उसमें अभिव्यक्त हुई है । फिर अपने बाद संवेदनशील, विचारवान्, प्रौढ़ अनुभूति के पाठक के लिए ।

`रेखा की भूमिका`[१४] शीर्षक निबंध में रेखा` नदी के द्वीप` का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है । वही अपनी भावनाओं के प्रति सबसे अधिक ईमानदार है और अपने प्रति सबसे निर्मम एक दूसरी तरह की ईमानदारी चन्द्रमाधव में भी है लेकिन वह दस्यु की ईमानदारी है । रेखा अपनी भावनाओं के प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतर के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसने समर्पण की सीमा तक पहुंचा दिया है । रेखा की ट्रेजडी उसके इसी समर्पण की अधूरेपन की ट्रेजडी है । टेकनीक की दृष्टि से दोनों स्त्री-पात्र-रेखा और गौरी तथा दोनों पुरुष पात्र भुवन और चन्द्रमाधव प्रत्यवस्थित हो गये हैं । रेखा भावना की सच्चाई के प्रति समर्पित है, या होना चाहती है लेकिन जीवन का अनुभव अधिसंख्य या अधिमात्र का ही अनुभव नहीं है, जो परिपक्वता की ओर ले जाय वही अनुभव है ।`श्लील और अश्लील शीर्षक निबंधानुसार श्लील और अश्लील देशकाल पर आश्रित है । उनकी कोई परिभाषा केवल शाश्वत नहीं हो सकती,वरन् आत्यन्तिक भी नहीं हो सकती । श्लील और अश्लील केवल समय(कनवेंशन) है जो हर

समाज और सामाजिक स्थिति के अपने अलग -अलग होते हैं। श्लील और अश्लीलता का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है। साहित्य का नहीं उसी प्रश्न को जब सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न बनाकर हम साहित्य की मर्यादा के भीतर लाते हैं तब वास्तव में प्रश्न वही रहता ही नहीं दूसरा ही हो जाता है। देखना अश्लील नहीं है, अधूरा देखना अश्लील है। जैसे कि शिशु और माता की एक दूसरे के सम्मुख नग्नता-नंगापन या अश्लीलता नहीं है। एक अनुराग बध्य प्रणयी युगल की एक दूसरे के सम्मुख नग्नता भी नंगापन या अश्लीलता नहीं है वहां अश्लीलता उसी को देखती है जो अधूरा देखता है। ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति को समाज की तत्कालीन मान्यताएं गलत अवश्य जान पड़े। जहां तक नये समय या कनवेंशन का प्रश्न होता है। जो नहीं है वही ठीक है। और जहां साहित्य का प्रश्न है वहां तो आचरण सम्बंधी यह सारा संघर्ष ही बेमानी है। साहित्य में कृतिकार अगर किसी साहित्यिक रूढ़ि को चाहे वह तत्कालीन सामाजिक मूल्यों से ही सम्बंध रखती हो गलत समझता है, तब उसके सामने भी वही प्रश्न होता है कि निबाहता चलूं या लड़ मरूं ? कुछ निभ निबाहते चलते हैं कुछ लड़ मरते हैं।

'नये लेखक की समस्याएं'[१५] निबंधानुसार आज नये साहित्य की चर्चा करते समय भी हमारी दृष्टि वास्तव में आज से बीस-पचीस वर्ष पहले के साहित्यकार पर जमा होती है। प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, सुदर्शन- ये उस समय के बुजुर्ग थे। निराला,सुमित्रानंदनपंत, महादेवी ये उभरकर सामने आ गए थे और इनके कृतित्व में हिंदी की उज्ज्वल संभावनाएं स्पष्ट दीख रही थीं। साहित्यिक जीवन का प्रत्येक स्तर गतियुक्त था। साहित्यकार आशा और उत्साह से आगे बढ़ रहा था और नये तथा पुराने साहित्यकार के बीच सम्पर्क और सहानुभूति का एकसूत्र भी था। इतना ही नहीं अभिजात साहित्यकारों में एक सहज आत्म विश्वास और आत्मगौरव की भावना होती थी जो उनके लेखन में भी अभिव्यक्त होती थी। दूसरे रूप में और वे दूसरे स्तर

पर मैथिलीशरण गुप्त में भी देखी जा सकती है । आज का युवक लेखक या तो किसी दल का सदस्य है और दल के प्रति उत्तरदायी है और यह दायित्व नैतिक नहीं- राजनैतिक है । जहां उसका अपना विवेक दल की नीति से मेल नहीं खाता वहां दल को नहीं विवेक को छोड़ना ही सुसदस्यता है । इस काल का समूचा लेखन एक नये प्रकार की सजग करुणा का लेखन है । एक ओर मानवी करुणा सामाजिक चेतना बनी तो दूसरी ओर वह एक नये अर्थ में मानवीय हुई । फिर एक नयी स्थिति सामने है कि निम्न-मध्यमवर्ग ही जिसे हम उत्पीड़कों का गुरगा मानना सिखाया जा रहा था, अधिक उत्पीड़ित और सहानुभूति का घत्र पात्र है । साहित्यिक पत्र जगत की अवस्था उतनी हीन कभी नहीं थी जितनी वह आज है । सर्वत्र साहित्यकार का संस्कारीकरण हो रहा है । 'लेखक और प्रकाशक' [१६] शीर्षक निबंधानुसार संघर्ष लेखक जीवन का एक बहुमूल्य अनुभव है और इस संघर्ष से अछूते रह जाना बच जाना नहीं बल्कि वंचित हो जाना है। लेखन और प्रकाशन अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरे का कल्याण तो हो ही नहीं सकता । आदर्शों की बात अलग है आदर्श में विज्ञान मूलत: कल्याणकारी है । लेकिन समकालीन वास्तविकता देखें तो मानना होगा कि प्रकाशन भी लोक कल्याण से उतना ही दूर है जितना कि विज्ञान । व्यास इस हद तक आधुनिक हो गये थे कि उन्होंने एक शीघ्र लिपिक को महाभारत बोलकर लिखा दिया था । लेकिन प्रकाशक तब नहीं थे । प्रकाशक और लेखक का सम्बंध सांप और छछूंदर का है । क्या ऐसा असम्भव ही है कि प्रकाशक लेखक का हितैषी हो और सत्साहित्य के प्रणयन और प्रचार में योग दे सके ?

'जीवन का रस' शीर्षक निबंधानुसार समय की दूरी सभी अनुभवों को मीठा कर देती है। तात्कालिक स्थिति में भले ही वे कितने ही तीखे और कटु हों-साहित्य-रचना में चयन भी है, सम्पुंजन भी, सघनीकरण भी क्योंकि सागर के विस्तार को एक आलोकवेष्टित बूंद के विकरित आलोक के छोटे से दायरे में दिखा सकना ही रचना का

काम है, लेखक का वह गुण है जिसे दृष्टि कहा जा सके । एक और घटना निबंधकार को याद आती है वह दूसरी कोटि की है । गहरी मानव अनुभूति में अपनी एक ~~कक~~ अक्षुण्ण, अभ्रष्ट पवित्रता होती है जिसे दर्शक की क्षुद्रताएं छू नहीं सकती। यहां पर निबंधकार ने उदाहरण से समझाया है कि समय की दूरी पर सभी कुछ मीठा है, क्योंकि सभी कुछ धुंधला भी है- पर जो धुंधला नहीं है उसे मीठा कहना उतना ही ठीक या बेठीक है जितना उसे कडुवा कहना । जीवन का रस कडुआ मीठा कुछ नहीं है वह रामरस है जिसमें सब रस समाये हैं । 'कवि-कर्म-परिधि-माध्यममर्यादा'।[87] शीर्षक निबंध में नये और पुराने लेखक या कवि की तुलना से उन दोनों का अन्तर लक्षित किया है । निबंधकार के अनुसार कवि कर्म किसी युग में इतना कठिन नहीं रहा जितना वह आज है। नये कवियों की आये दिन नयी बाढ़ के बावजूद, आज का लेखक यह महसूस करता है कि वह अपने पाठक से ~~अपेक्षया~~ ~~क्क~~ दूर है, या दूर होता जा रहा है या कुछ देरबाद दूर हो जायेगा । पुराने जमाने में कवि या तो जनकवि होते थे या राजकीय होते थे । प्राचीनकाल में नाम के विषय में जो दोहरी प्रवृत्ति हम पाते हैं उसका वास्तविक समाधान यही हो कि वे दो अलग-अलग काव्यों की प्रवृत्तियां हैं किन्तु आज परिस्थिति यह है कि हम कवि से चाहते हैं कि वह एक साथ ही जनकवि भी हो और राजकीय भी हो । राज्य के प्रति उसके जो कर्तव्य हैं उनका निर्वाह होना चाहिए, क्योंकि राज्य भी जन राज्य है । ऐसे लेखक क्रमश: कम होते जा रहे हैं जो यह कहें कि साहित्यकार का उत्तरदायित्व सबसे पहले अपने प्रति है दूसरों के प्रति बाद में है या परिणामत: है। जन या लोक नाम की समष्टि में लोगों या अंगों के संस्कारिता के कई अलग-अलग स्तर हैं । कुछ अधिक संस्कृत, कुछ कम और कुछ और भी कम । अब प्राय: यह माना भी नहीं जाता कि यह दावा बिलकुल निराधार है । साहित्य के क्षेत्र-विस्तार के साथ-साथ कवि कृतिकार की परिधि में संकोच भी होता गया है । कला यदि सत्य की उपलब्धि का या उसकी सूचना का एक साधन या माध्यम है और कलाकार यदि उसकी इस माध्यमिकता की रक्षा का अपना कर्तव्य न भूले तो उसकी समस्या हल होकर ही रहेगी।

और इसी निष्ठा के सहारे उसका पथ विशद हो जायगा । विभिन्न कलाओं के जितने भी माध्यम हैं, भाषा का माध्यम उनमें सबसे अधिक कृत्रिम है । सुर का उपयोग मूल्य को नहीं बदलता । इसी प्रकार चित्रकला के रंग या मूर्तिकार के मिट्टी-पत्थर, रत्न धातु आदि अपना स्वतंत्र अस्तित्व और सत्ता रखते हैं । शब्द का अर्थ एक सर्वथा मानवीय आविष्कार है । भाषा की शक्ति का आज जितना दुरुपयोग दुनिया में होता है उतना किसी युग में न हुआ होगा ऐसा निबंधकार का कहना है । द्विवेदी युग में भाषा के बारे में जो सजगता और आग्रहशीलता थी वह आज नहीं है । किसी भी कृति की वस्तु अनिवार्यतया मानवीय वस्तु होती है । यान्त्र कर्म ही उन्नति का साधन है किन्तु यन्त्र नैतिक नहीं है । आधुनिकता नाम की एक नयी समस्या हमारे सामने है । समकालीन साहित्य में `क्षण` पर जो आग्रह लक्षित होता है उसे इसी सन्दर्भ में समझना चाहिए। क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है। जो कृति न होकर अनुकृति है उसके घटियापन के आधार पर कृति को ठहरा देना भूल है। वह आलोचना नहीं प्रवंचना है ।

`मन से परे`[१८] शीर्षक निबंधानुसार ज्यों-ज्यों भाषा के साथ परिचय बढ़ता गया है, शब्द और संस्कृति के परस्पर योग की गंभीरता क्रमशः अधिक प्रकट होती गयी है। त्यों-त्यों पुरानी कहानियों में भी गंभीरतर नया अर्थ मिलता गया है । वास्तव में कहानी जो कहनी है वह समूची बात ही एक दूसरे स्तर की है । त्रिशंकु के बारे में बताया गया है कि तीन आयामों की ओर इंगित करनेवाला वह बबूल का कांटा ही वास्तविक त्रिशंकु है जिस पर एक स्वाश्रयी कहानी का आरोप कर दिया गया है । सहसा उदित होनेवाले `सत्य` वास्तव में सहसा मूर्त नहीं होते, मूर्ति का उद्घाटन ही सहसा होता है । तत्व की बात यह है कि त्रिशंकु का रूपक एक नये चोले में सामने आ गया । `देश स्पेश` में किसी भी वस्तु की स्थिति निरूपित करने के लिए तीन आयामों में उसकी अवस्थिति बतानी पड़ती है। त्रिशंकु को त्रिशंकु के नये रूप में पहचानें तो आकाश में

उसका निरूपण वास्तव में भौतिक अस्तित्व का निरूपण है। बिना उसके भौतिकता ही नहीं होती। वास्तविकता केवल देश में स्थित नहीं काल में भी स्थित है। किसी रूपक या बिम्ब या 'इमैज' के पीछे सत्य का आत्यन्तिक मूल्य एक बात है, उसकी सम्बंधकारकता उसकी तदर्थ प्रेषकता दूसरी बात। 'जो न लिख सका'[१६] शीर्षक निबंध में निबंधकार ने 'स्वयं' के माध्यम से 'स्व' को (अपने को) पात्र बना कर लिखा है कि साधारण पाठक चाहे जो समझता हो और विश्वास दिला देते हों, सच बात यह है कि, 'जो मैं न लिख सका'- प्रश्न कोई अर्थ ही नहीं रखता-यदि वास्तव में ऐसा कुछ है जिसे मैं कह सकता नहीं हूं, तो वास्तव में मैं उसे जानता ही नहीं हूं। बात असल में रचना की क्रिया की है। जो वास्तव में एक ही बात के पहलू हैं रचना के लिए दो चीजें चाहिए : एक तो कलात्मक अनुभूति या संवेदना। दूसरे उसके प्रति वह तटस्थ भाव जो उसे सम्प्रेष्य बना सके। यदि कोई कलाकार समझता है कि उसके पास दर्द तो बहुत हैं पर उसे वह कह नहीं सकता, तो उसका दर्द झूठा ही हो ऐसा नहीं है। लेकिन सब कृतिकार सर्वांग निर्दोष कहां हैं? इसलिए अपने दर्द का थोडा सा मोह शायद सबमें बना भी रहता है। इसलिए दृष्टि थोड़ी सी धुंधली भी हर किसी की होती है। आत्मदान में थोड़ी सी चूक सब कर जाते हैं, जो व्यक्ति घर की खिड़कियां खोलने में लगा है वह यह कैसे कह दे कि बाहर का दृश्य मुझे दीख नहीं सकता। वह इतना ही कह सकता है कि-'ठहरो' अभी देखकर बताता हूं। इसीलिए मैं यानी निबंधकार सोचता है कि जो न लिख सका, कोई अंतिम स्थिति नहीं है, एक अन्तरिम अवस्था होव सकती है। 'मैं क्यों लिखता हूं'[२०] शीर्षक निबंधानुसार लिखकर ही लेखक उस आभ्यन्तर विवशता को पहचानता है। सभी लेखक कृतिकार नहीं होते, न उनका सब लेखन कृति होता है। कृतिकार के स्वभाव और आत्मानुशासन का महत्व बहुत होता है। कुछ ऐसे आलसी जीव होते हैं कि बिना इस बाहरी दबाव के लिख ही नहीं पाते। इसी के सहारे उनके भीतर की विवशता स्पष्ट होती है। यह भीतरी विवशता क्या होती है? इसे बखानना बड़ा कठिन है। पर अनुभूति के स्तर पर जो विवशता होती है वह बौद्धिक पकड़ से आगे की बात है और उसकी तर्कसंगति भी अपनी

अलग होती है । अनुभव से अनुभूति गहरी चीज है कम से कम कृतिकार के लिए । भीतर की आकुलता बुद्धि के क्षेत्र से बढ़कर संवेदना के क्षेत्र में आ गयी । कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात्कार करता है तब मानों वह एक बलिपुरुष की तरह देवताओं को मनोतीत हो जाता है और काव्यकृति ही उसका आत्म बलिदान है जिसके द्वारा वह देवताओं से उऋण हो जाता है यही देवता से उऋण होने की छटपटाहट - वह विवशता है जो लिखाती है ।

'सम्प्रेषण काल भाषा का क्रम'[२१] शीर्षक निबंधानुसार काल की प्रतीति और उसके ऐतिहासिक तथा अनुभवमूलक रूपों का और उनके कारण कथा वृतान्त के प्रस्तुतीकरण में साहित्यकार के लिए जो समस्यायें उठती हैं उनका यथेष्ट निरूपण हो चुका है । किसी एक दृश्य पर ध्यान केंद्रित कीजिए- ये चीज आपके सामने हैं और इन सबको एक ही नजर में आप देख ले सकते हैं । इस देखने को प्रत्यक्ष दर्शन कह लीजिए । जहां तक दर्शन का प्रश्न है आपकी और उसकी दृष्टि में कोई भेद नहीं होना चाहिए । लेकिन चित्रकार जब यथार्थ को देखने से आगे चित्र भी तैयार करने लगेगा तब वह सब चीजों को एक साथ देखते हुए भी उन्हें दूसरे ढंग से देख रहा होगा । भाषा उन सब चीजों को चाहे जिस क्रम में प्रस्तुत कर सकती है। लेकिन एक साथ प्रस्तुत नहीं कर सकती। भाषा का अपना एक क्रम है जो बहुत कम छूट देता है । वाक्य, शब्द और पद एक क्रम से ही आते हैं । चीजों के चित्र को भी हम मनमाने ढंग से पढ़ सुन नहीं सकते, वाक्य उल्टे नहीं पढ़े जा सकते हैं । भाषा यथार्थ को प्रस्तुत करने का माध्यम है। लेकिन उसके साथ साथ वह यथार्थ का नियोजन भी करती है और उस नियोजित रूप में ही यथार्थ ~~क~~ हमारे सामने आ सकता है । मनोवैज्ञानिक चिन्तन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अनुभव का कालक्रम ऐतिहासिक कालक्रम से उलटा होता है । उपन्यास की विधाओं का विकास हो रहा था और इन विकासों के परस्पर प्रभाव से फिर जो नये शिल्प-विधान विकसित हो रहे थे कोई कारण नहीं था कि सजग उपन्यासकार इन सबको

पहचानता हुआ अपनी कला का विकास न करें वास्तव में उपन्यास की समूचे साहित्य की समस्या यथार्थ को रचने की समस्या है। मध्यकाल में आख्यान साहित्य और रोमांस ने अपना नाता यथार्थ की इस धार्मिक भित्ति से तोड़ लिया और मनोरंजन के लिए आसपास के यथार्थ की ओर देखना शुरू किया। आज हमारी जानकारी का क्षेत्र भी बढ़ गया है और इसीलिए हमारा यथार्थ बहुत विस्तीर्ण हो गया है। 'साहित्यिक-काल: यथार्थ का क्रम'[22] शीर्षक निबंधानुसार काल जैसे जीवन का माध्यम है वैसे ही इतिवृत्त का भी। समय की यथार्थता और हमारे अनुभव में काल की प्रतीति उन समस्याओं में से एक है। यथार्थवादी वृतान्त की समस्याएं उठाने से पहले यह उपयोगी होगा कि आख्यान अथवा वृत्त कथन या कथा के कुछ पारिभाषिक रूपों का उदाहरण लिया जाये और प्रत्येक को काल के परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयत्न किया जाये। पहला उदाहरण 'परीकथा' अथवा 'नानी की कहानी' का लिया जाये। बहुत दिन पहले एक राजा था, पुराने जमाने में एक राजा था- अंग्रेजी में 'Once there was a king!' या Once upon a time there lived !' इत्यादि इत्यादि। या कहानीकार यों आरंभ करके हमें इस बात का ही स्पष्ट संकेत नहीं देता कि जो सुनाये जानेवाला है वह 'एक परीकथा' है अथवा 'नानी की कहानी' है या यह आरंभ एक स्पष्ट संकेत नहीं है कि इस कथा की घटनाएं हमारे साधारण काल अथवा समय में घटित न होकर एक विशिष्ट काल में घटित होता है, या होगी। जिसकी सम्भावना और प्रतीति के अपने अलग-अलग नियम हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि वयस्क मनुष्य में भी निरन्तर एक किशोरवय बालक आरजी तौर पर बना रहता है। निबंधकार के अनुसार श्रृंखलित अथवा आवर्ती कथा विशेषतया भारतीय प्रतिमा की देन है। इस तरह सीधी अथवा खुली श्रृंखला की कथाएं भी हम सभी की परिचित है। लेकिन कहानी में कारण और कार्य अथवा हेतु और हेतुगत के दो प्रकार के सम्बंधों की प्रतिष्ठा होती है। कथा के लिए महत्व इस बात का है कि वास्तविक या कल्पित घटना को परस्पर निर्भरता की एक श्रृंखला में बांधना इन कहानियों का लक्ष्य होता है और इस श्रृंखला के साथ कथा का प्रवाह

एक बार अनुलोम और एक बार प्रतिलोम बहता है। जैसी अवधारणा की चर्चा हम कर रहे हैं उसका आविष्कार किसी एक काल प्रतीति के सन्दर्भ में, किसी एक संस्कृति में और उस संस्कृति में काल की प्रतीति के संदर्भ में सच होने के लिए ही किया गया है। उसमें कथा कहने और सुननेवाले दोनों पक्ष के लिए वे नैतिक मूल्य ही तो यथार्थ के मूल और सार तत्व है। कहानी हमें बदले हुए काल का बदले हुए ढंग से बोध कराती है। अंग्रेजी में फिक्शन नाम ही स्पष्ट कर देता है कि वह कल्पना के आधार पर जोड़ी हुई चीज है। भारतीय नाम `आख्यान` अथवा आधुनिक काल में प्रचलन पा जानेवाले नाम `उपन्यास` और `नवलिका` भी इस परिभाषा से दूर नहीं है। आभ्यन्तर जगत की घटना प्रस्तुत करना उपन्यासकार के लिए कठिन समस्या है। काल के तत्वों का यह अन्तर्भेदन आधुनिक उपन्यास साहित्य का इतना महत्वपूर्ण अंग है कि एक आलोचक ने उसी को हमारे युग का वास्तविक उपन्यास माना है। सभी महत्वपूर्ण उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक शोध से परिचित रहे। इस पर बल देने का प्रयोजन यह कदापि नहीं है कि अनुभूत या वास्तविकता के चित्रण और प्रस्तुतीकरण में इन उपन्यासकारों के योग का महत्व कम किया जाये।

भाषागत सम्प्रेषण का आधार एक सामाजिक समझौता अथवा `समय` होता है। शब्दों के अर्थ समाजव्यापी सहमति पर आधारित होते हैं क्योंकि शब्द साधारण होते हैं इसलिए साधारण पाठक के लिए रास्ता हमेशा खुला रहता है। स्मृति का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि प्रत्येक स्मृति की संरचना विशिष्ट और अद्वितीय होती है और `चेतनधारा` पद्धति इसी अद्वितीय स्मृति संरचना को प्रस्तुत करने की चेष्टा करती है। `चेतनधारा` अथवा `चेतना प्रवाह` पद्धति का प्रतिभू बिम्ब `नदी` का है। किसी भाषा में इस तरह प्रयोगों का सम्पूर्ण पर्याय किसी दूसरी भाषा में नहीं मिल सकता। अन्य सभी कलाओं की भांति उपन्यास भी एक `काल निबद्ध` विधा है बल्कि उपन्यास की काल-सापेक्षता और भी प्रत्यक्ष है। वृतान्तकाल अथवा संरचना काल वह अवधि है जिसमें कि घटनाओं का चाहे जिस क्रम में

संगठित किया हुआ प्रस्तुतीकरण कहा जा सकता है । उपन्यासकार की स्वतंत्रता में ही उसकी मौलिकता की गुंजाइश रहती है । एक ही घटना से अनेक सर्वथा भिन्न और मौलिक कहानियां बनायी जा सकती हैं । यथा और यथार्थ के प्रश्न को हम निरन्तर नये आयाम देते रहे हैं : कुछ का आधार हमारे बाह्य जगत की जानकारी रहा है, कुछ का हमारे आभ्यन्तर की । दोनों की यह समान समस्या है ।

'मानवीय काल : अनुभव का क्रम'[23] शीर्षक निबंध में मनुष्य जहां एक ओर काल को प्रवाह अथवा परिवर्तन के रूप में अनुभव करता है, वहां दूसरी ओर काल की प्रतीति उसे आत्म विकास के सन्दर्भ में भी होती है । काल और व्यक्तित्व पर एक साथ विचार करने से भी मानवचित्त की और भी विचित्रताएं सामने आती हैं । फ्रायड ने कहा था- अवचेतन प्रक्रिया की घटनाएं कालातीत होती हैं न वे काल में संगठित होती हैं । न काल के बीतने से उनमें कोई परिवर्तन आता है : उनका काल से कोई सम्बंध ही नहीं होता । हमारी अनुभूति में काल एक प्रवाह है- जिसकी एक दिशा है जो मरण की दिशा है । हाइडेगर ने कहा था, जीव जगत में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे आत्मचेतन होने के नाते अपनी मृत्यु की अवश्यम्भाविता की पहले से जानकारी है । अनुभूतकाल अथवा काल की मानवीय प्रतीति का अच्छा उदाहरण निबंधकार ने दिया है। दूसरे प्रकारों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनमें घटना का प्रवाह, अनुभूतकाल का प्रवाह, अत्यन्त द्रुत, अत्यन्त सघन, अत्यन्त विस्तीर्ण हो जाता है । शेखर: एक जीवनी की भूमिका में अज्ञेय ने कहा है कि पूरी कथा एक रात में देखे हुए Vision का वृतान्त है । माना जाता है कि मृत्यु के क्षण में आमृत्यु से साक्षात्कार के क्षणों में मनुष्य अपने सारे जीवन का पुनरावलोकन करता है । किन्तु काल की प्रतीति अथवा अनुभूति के कुछ पहलुओं को दृश्य रूप देने के लिए डमरू की आकृति उपयोगी है । डमरू की मूल आकृति एक दोहरे शंकु की है जिसमें दोनों शंकुओं के शिखर एक दूसरे से मिले हुए हैं । दोनों शंकु अतीत और भविष्य हैं । हमारी चेतना सर्वदा वर्तमान के बिन्दु पर स्थिर रहती है । डमरू की गति काल की गत्यात्मकता को प्रति रूपायित करती है ।

काल की प्रतीति गति की उन्मुखता अथवा प्रतिमुखता की प्रतीति है । किन्तु वास्तव में डमरू की कटि, शुद्ध सन्धि बिन्दु न होकर कटि ही होती है और यहीं से उसे पकड़ा जाता है । इस कटि का एक लघु आयाम होता है- यही विस्तार है। क्षणिक अमरत्व के ये क्षण चाहे जितने ही लघु और ल दुर्लभ क्यों न हों, लेकिन इस काल्पनिक विवेचन को छोड़ भी दें तो भी हमारी चेतना में काल की संरचना का रेखाचित्र प्रस्तुत करने के लिए डमरू के आकार की उपयोगिता बनी रहती है । काल पर विजय केवल शुद्ध वर्तमान के आत्म साक्षात्कार में ही हो सकती है । वास्तव में स्मृति का यह रचनात्मक पक्ष ही है। जो अनुभव को निरन्तर समायोजित,संश्लिष्ट और नियमित करता चलता है । काल अलग अलग और परस्पर असम्बद्ध क्षण इकाइयों का अनुक्रम है । प्रस्तू के लिए काल वियुक्त, विखंडित और नैतन्तर्य -रहित क्षण इकाइयों की झड़ी थी । आत्म या अस्मिता की खोज के एक साधन के रूप में खोये हुए काल की खोज का पहला ब्यौरेवार दस्तावेज प्रस्तू ने प्रस्तुत किया । काल और अस्मिता, काल और व्यक्ति के आत्म बोध के सम्बंध का प्रमाण निषेधात्मक प्रतिज्ञा से भी खोजा जा सकता है । वर्तमान संदर्भ में नित्यता,शाश्वतता,इ इटर्निटी का अभिप्राय एक अन्तहीन काल नहीं है बल्कि एक कालातीत आयाम मात्र है । यह भी कहा जा सकता है कि कला एक जीवन पद्धति है जो हमें मृत्यु के काल परिदृश्य से परे ले जाती है । लेकिन आवश्यक नहीं कि मृत्यु को अतिक्रांत करनेवाला काल का यह रूप इस प्रकार मर्त्सनीय ही हो । मिथक को लेकर बताया गया है कि मिथक मानव अस्तित्व के कालातीत प्रारूप अथवा ढांचे हैं । टामसमान ने मिथक को कालातीत रूपरेखा कहकर निरूपीत किया है । आधुनिक यन्त्र वैज्ञानिक समाज में मानव का अनुभूतकाल क्रमश: अधिकाधिक मात्रात्मक होता जा रहा है और उसकी मात्राएं या इकाइयां मापी जा सकती है । मिथक केवल मानव की स्थिति के इन आदिम निरूपणों की ओर निरन्तर ले जाते रहने का ही साधन नहीं है, मिथक एक जातीय अस्मिता के भी प्रतीक हो सकते हैं ।

अज्ञेय ने अपने निबंधों में संस्कृति का वर्णन भी किया है । भारतीय संस्कृति

पर उन्होंने अपने विचार प्रदर्शित किए हैं। यहां पर उनके 'संस्कृति' के बारे में कुछ विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

सांस्कृतिक :

'भारतीय संस्कृति और विश्व संस्कृति'[२४] शीर्षक निबंधानुसार उन्होंने बताया है कि देश की या संसार की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन का महत्व कम है ऐसा मैं नहीं कहूंगा लेकिन अध्ययन की कोटियां होती हैं। साधारण जन के लिए प्राचीन संस्कृतियों के अध्ययन का महत्व एक आधुनिक सन्दर्भ में ही होता है। पिछले सौ वर्षों में भारतीय संस्कृति की भारतीयता की बहुत चर्चा हुई। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत से छोटे या सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भारत की अपेक्षा कम प्रौढ़ देशों में भी हम यह प्रवृत्ति देख सकते हैं। मध्यकाल के वैष्णव भी जब कहते थे कि-सब के उपर मनुष्य है, उससे उपर कुछ नहीं अथवा 'जो भी हो मेरा पडोसी है। जहां भी हो मेरा देश है तब उनकी विश्व मानवता को पुष्ट करनेवाली एक देश व्यापी वैष्णव समाज की परिकल्पना की थी। विश्व संस्कृति की आरती उतारकर मानों संस्कारी भारतीय होने के दायित्व से हम छुट्टी पा जाते हैं। न केवल अपने कुएं के भेदक बने रहने के लिए आधार पा लेते हैं बल्कि और सब तालाब। पोखर, नदियों से घृणा का भी समर्थन हमें मिल जाता है।

'भारतीयता'[२५] शीर्षक निबंधानुसार भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृत्ति की छाप नहीं। एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है। जो भारतीय को सारे संसार से पृथक करता है वहां भारतीय मानस से अभिप्राय इने-गिने मेधावियों का मानस नहीं। लोकमानस है। प्राकृत जन का भी मानस है। भारतीयता का पहला लक्षण है सनातन की भावना। काल की भावना। भारतीयता का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना, किसी हद तक यह पहली

विशेषता का परिणाम ही है । जब हमारा काल ही यथार्थ नहीं रहता तब उस काल में होनेवाले व्यापार भी अयथार्थ हो जाते हैं । भारतीयता का जो रूप हमारी तत्सम्बंधी सहज स्वीकृति-हमारे सनातन स्वीकार में लक्षित होता है उसकी मूल भावनाएं स्वयं जड़ है। जिसे हम भारत की आत्मा कहते हैं वह वास्तव में आत्मा और अनात्मा का, जीवित और जड़ का एक पुंज है । जिसकी परीक्षा की आवश्यकता है। आज बहुधा भारतीय संस्कृति के जड़ तत्वों को ही भारतीयता माना जाता है कुछ लोग भारतीय के समर्थन के नाम पर निरी जड़ता का समर्थन करते हैं । कुछ दूसरे जड़ता के विरोध के नाम पर संस्कृति से ही इनकार करना चाहते हैं । जैसे शिशु कभी कभी सोये ही सोये आंखें खोलकर मुसकरा देता है। उपर पेड़ की धुली हुई पत्तियों पर धूप-छांह का खेल अपनी चंचलता से ही मानो दर्शक को स्थिर और अचंचल कर देता है । यहां पर प्रश्न किया गया है कि क्यों हम शांति के लिए ज्ञान खोजते हैं ? मनोदशा के लिए मन के बाहर का कुछ भी क्यों महत्व रखता है? मन ही से मनोदशा उत्पन्न होनी चाहिए। मन अपना निजी है,आभ्यन्तर है । आभ्यंतर शक्तियों की लीला के बोध पर आधारित एक अनुमान है । शांति ~~कभी-निरी~~ भी निरी मन की दशा नहीं है । मन की मानसेतर सम्बंधों की दशा है । जब मन और मन से इतर का आपसी सम्बंध तनाव खिंचाव के से रहित होकर संतुलन पा लेता है, तब शांति की अवस्था होती है ।

'शारदीय धूप'[२६] शीर्षक निबंधानुसार शारदीया धूप बगीचे की पत्तियों पर आंखमिचौनी खेलती हुई धूप है । उससे जिस शांति का उदय होता है वह ~~सहसा~~ सहसा छिन जानेवाली नहीं है बल्कि दो समानान्तर अन्तर्विरोध निबंधकार के सम्मुख खड़े हैं । ज्ञान की उत्कट खोज जो हमारे अन्तस की रसधारा को सुखा देती है और शांति की मनोदशा का अनुभव करने की हमारी क्षमता ही जाती रहती है । शान्ति मिथ्या है, भ्रम है, ज्ञान भी मिथ्या है, संघर्ष भी मिथ्या है, अनुभव मिथ्या है क्योंकि अनुभव

को हम जिस यंत्र से आत्मसात करते हैं वही मिथ्या और अविश्वास्य है ? शांति की अवस्था केवल मात्र अदु:ख की अवस्था है निर्वेद की अवस्था है । शारदीया धूप, धूप का एक वृत्त जिसके भीतर आलोक भरी शांति ने (मुझे) निबंधकार को घेर लिया है । कई मार्ग हैं शांति के लेकिन किस को चुनकर हम शांति पाते हैं वह भी मूलत: हमारी मनोदशा पर ही निर्भर है । पत्तियों पर झूलती हुई तीसरे पहर की धूप इससे भिन्न किसी परिणाम की अनुमति नहीं देती। वह एक बहुत बड़ी इकाई है- नहीं एक बहुत छोटी इकाई जिसमें बड़ी-बड़ी इकाईयां डूब जाती है । वैसी ही इकाई जैसी यह छोटी सी पत्ती और इस पर झूलती हुई शारदीय तीसरे पहर की धूप ।

'संवत्सर'[२७] शीर्षक निबंधानुसार ओस क पर की धूप की ओर भी लोगों का ध्यान जाता है और गया है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लोग जो चीज देखते हैं उसकी तरफ उनका 'ध्यान' जाता है और उनकी दृष्टि नहीं जाती। अब उन लोगों की क्या कहिए जिन्हें ओस की बूंद में केवल नश्वरता दीखती है और धूप का चमत्कार नहीं दीखतो ? अगर हमें जो सामने है उसे देखना नहीं है । उसकी ओर केवल ध्यान देना है, जो ध्यान देने की बात नश्वरता की नहीं । बल्कि इस अनाद्यन्त प्रक्रिया की है। हमारा ध्यान, हमारी दृष्टि और स्वयं हम भी, जिसमें किरण ही नहीं, सूर्य, चन्द्र तारामण्डल सभी कुछ है । नश्वरता का मेरे लिए कभी कुछ विशेष अर्थ नहीं हुआ- लेकिन हर चीज मिटती हुई किसी प्राणवान चीज की प्राणवत्ता में अपना योग दे जाती है । पुराने आरण्यक उन्होंने जीवन को नश्वर नहीं माना। ओस की बूंद में धूप की चमक देखकर उन्हें मृत्यु का स्मरण नहीं आया, बल्कि उन्होंने उस सवितृ का स्तवन किया जो सारी प्रक्रिया की गति बढ़ाता है-हमारी प्रत्यभिज्ञा सम्पन्न बुद्धि की भी । संवत्सर मृत्यु भी था लेकिन वह विनाश नहीं करता था, क्योंकि उसके पास ऋतु कर्म का अक्षय भंडार था । यह भी नहीं कि बौद्ध चिन्तन में भी केवल नश्वरता को ही देखा, उसके लिए भी प्रक्रिया प्रधान थी और सनातन थी, नश्वरता तो एक मात्र लक्षण था ।

Smt. HANSA MEHTA LIBRARY · THE M.S. UNIVERSITY OF BARODA

'काल मृगया' [28] शीर्षक निबंध में निबंधकार ने मैं का उपयोग किया है। पहाड़ी के मुख्य भवन - गढ़ या हवेली में मैं नहीं हूं । मुझे गढ़ भीतर से देखने का सुयोग अनायास मिल गया है । आखिर हवा लगाने के लिए भी तो गढ़ को जब तक खोलना ही पड़ता है । गढ़ की हर दीवार पर शिकार के बड़े-बड़े चित्र टंगे हैं । गढ़ वाले सरकार मर चुके हैं, पर दीवार पर बारहसिंगे की शिस्त लेकर चार शिकारी अभी गोलियां दाग रहे हैं । अस्सी बरस से वह घायल बारहसिंगा उस दीवार पर टंगा मर रहा है । दूसरे चित्र में घायल बनैले सुअर को शिकारी कुत्ते नोंच रहे हैं और भी कई चित्र हैं । हर कमरा बारादरी एक चित्रदीर्घा है । जिसमें लगे चित्रों को पशुओं की बिल्लौरी आंखें एकटक निर्निमेष दृष्टि से देखती रहती है। अस्सी सौ बरसों से देख रही है । जो लिखता है उसके सामने इनके अलावा और भी सवाल है। वह क्या है? जिसमें पूछनेवाले सवाल पूछते हैं और निबंधकार कहते हैं जिसमें मैं जीता हूं, काल पर क या ये काल एक ही है? वह जिसमें सरदार मरे प्यादे दौड़े, सुअर तडपे, और जिसमें मैं जीता हूं । काल--------प्रतीति-------- और सातत्य नित्यताएं। एक मर चुके होने की ऐतिहासिक नित्यजा एक जी रहे होने की आस्तत्विक नित्यता और एक यह जो चित्र लिखित होने की नित्यता है। जिसमें काल का जल शिथिल हो गया है वह।

प्रश्नात्मक :

अज्ञेय ने प्रश्नात्मक शैली में अनेक निबंध लिखे हैं । जिनमें प्रश्न का माध्यम वे अपने को 'स्वयं' को बनाते हैं और उत्तर भी स्वयं ही देते हैं ।

'नयी कविता के गीत: एक प्रश्नोत्तर :' [29] शीर्षक निबंधानुसार नयी कविता में अस्पष्टता और गद्यात्मकता का दोष देखनेवाली आंखों को नयी कविता की कोमल और तरलभूमि के भी दर्शन होंगे । यहां पर प्रश्न पूछा गया है कि समकालीन समाज और जनता में जिस गीत के माध्यम से लोकप्रियता,सम्मान और अर्थ पाना अधिक आसान .

हो सकता था उसे छोड़कर ये कवि नयी कविता के कंटकाकीर्ण मार्ग पर क्यों चल रहे हैं ? इसका उत्तर स्वयं निबंधकार ने ही दिया है - अगर सभी लोग आज का जीवन जी रहे हैं तो कवि के लिए यह संभव होना चाहिए कि वह आज के जीवन सत्यों को सब तक प्रेरित कर सकें । आज के कवि का परिस्थिति को अद्वितीय मान लेने का अर्थ है कि केवल कवि का ही संवेदन विकसित हुआ है - और लोक जरा भी आगे नहीं बढ़ा है । गीत एक ऐसी विधा है जिसकी अनिवार्यता किसी भी युग में चुकी हुई प्रतीत नहीं होती ? इस सम्बंध में आपकी राय जानना चाहेंगे । ऐसा नहीं है कि जिसने गीत भी नहीं लिखे- वह आज का कवि नहीं हो सकता । इतना ही है कि आज का कवि भी कभी-कभार गीत लिख दे सकता है और वैसा कर देने पर उसे पथभ्रष्ट नहीं मानना चाहिए। आकार लघुता गीत की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । पुराने काव्य में भी गीत की आकार लघुता की ओर प्रवृत्ति थी । यों तो कोई भी कवि गीत लिख सकता है लेकिन काव्य में गीत का स्थान गौण ही है । जिन्हें आप 'समकालीन परम्परावादी गीत' कहते हैं वास्तव में वे परम्परावादी नहीं है । बल्कि अपनी परम्परा से विच्छिन्न है ।। आज का नया कवि जब गीत लिखता है तब वह फिर गीति तत्व को प्रधानता देता है पर कसौटी गेयता की नहीं है । इस प्रकार उसका गीत आज के गीतकारों के गीत से भिन्न है और प्रगतिवादी गेय छन्दों से भी भिन्न है । ग्राम जीवन और नगर जीवन के आधार पर संवेदना को बांटना चाहना दुराग्रह है । किसी भी कला में पहली शर्त होती है माध्यम की मर्यादाओं की, उसकी शक्ति और उसकी सीमा को पहचानना - और दोनों का निर्वाह करते हुए उस माध्यम का प्रयोग करना ।

'उपन्यास की भारतीय विधा'[30] शीर्षक निबंधानुसार जिस देश समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो, जो राष्ट्रत्व के लिए छटपटा रहा हो, उसका साहित्य इस अकुलाहट को व्यक्त करें इससे अधिक स्वाभाविक क्या होगा ? भारतीय

उपन्यास की चर्चा इसी सन्दर्भ में सार्थक हो सकती है । अगर कालबोध भिन्न है तो उपन्यास का रूप भी भिन्न होगा- हर भारतीय भाषा में उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम के संपर्क का परिणाम है । पश्चिमी शार्ट-स्टोरी और भारतीय कथा में दो अलग अलग कालबोध प्रतिबिंबित और परिलक्षित होते हैं । `कठघरे से`[31] शीर्षक निबंध में निबंधकार कहते हैं कि मुझे जो शिक्षा मिली उसमें संतुलन को, जीवन कर्म और भावाभिव्यक्ति के सहज संयम को विशेष महत्व दिया जाता रहा किन्तु जो पहले ही अविश्वास या विरोधभाव लेकर आते हैं जिनके प्रश्नों में पूर्व ग्रह प्रधान है। जो व्यवहार के बारे में नहीं नियम के बारे में प्रतिकूल धारणा बनाकर आते हैं। उनके सम्मुख सफाई देने की बात से आत्मा विद्रोह कर उठती है । (लोगों से) स्थिति को बनाये रखने के लिए आप कोई भी समझौता कर सकते हैं यह कहां तक ठीक है ? सृष्टि में जहां सभी कुछ अकारण और बिना प्रतिदान चाहे मिलता है वहां यह दम्भ सा जान पड़ सकता है किन्तु जो वास्तव में उस स्तर पर जा, या जी सकता है वह फिर इतना निस्संग भी होगा कि सभी कुछ उसी दाता को लौटा दे । स्नेह भाव लक्षित नहीं होता यह तो शायद ठीक है, पर वह है नहीं, यह भ्रान्ति है । जैसा दूसरे परिवारों में होता है वैसा प्रगल्भ प्रदर्शन आप हमारे परिवार में नहीं पायेंगे । यहां पर निबंधकार ने अपने बचपन का एक प्रसंग दृष्टान्तरूप में दिया है । आगे प्रश्न किया गया है कि आप जो कुछ करते रहे हैं उसमें परस्पर विरोध दिखाई देता है जैसे क्रान्तिकारी होना और फिर स्वाधीनता आन्दोलन के समय सेना में भरती होना । इसे आप कैसे संगत मानते हैं ? देश के स्वाधीन होने के बाद देश प्रेम के नाम पर आपने क्या किया है? जवाब में अवसरवादिता तब होती है जब अवसर से लाभ उठाने के लिए सिद्धान्तों को ताक पर रख दिया जाय। (निबंधकार ने) मैंने वैसा नहीं किया, दूसरों का सहयोग लिया है तो ऐसे ही कामों में जिन्हें मैं सही मानता था और लाभ भी विशेष नहीं उठाया। बल्कि दण्ड ही अधिक पाता रहा हूं जिनमें गलत समझा जाना, स्वयं सहयोगियों का निराधार विरोध पाना

और झूठे प्रचार का भी शिकार होना गिनाया जा सकता है । प्रश्न रूप में आप जो कुछ करते रहे हैं उसमें परस्पर विरोध दिखाई देता रहा है जैसे क्रान्तिकारी होना और फिर स्वाधीनता आन्दोलन के समय सेना में भरती होना । इसे आप कैसे संगत मानते हैं ? जवाब रूप में दूसरों को भी सामंजस्य दीख जाये यह अतिरिक्त उपलब्धि है । जिसे जीवन के अप्रत्याशित विस्मयों में गिनना चाहिये । विघटनशील शक्तियां आज की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होती और केन्द्रोपकारी प्रवृत्तियां अधिक प्रबल । प्रश्न का दूसरा भाग और भी भ्रांतिमूलक है । प्रेम न होते भी प्रेम के नाम पर बहुत कुछ किया जा सकता है और श्लाघित भी हो जाता है ये सब सतही बाते हैं, व्यक्ति में भी और उससे भी अधिक कलाकार में ।

जीवन दर्शन क्या है? सबसे पहले इतिहास को समझने की वह एक पद्धति है। उसमें हमें इतिहास की गतिविधि पर नयी दृष्टि मिली है । दूसरे वह एक उपयोगी अर्थ दर्शन है । समाज की अर्थ व्यवस्था को समझने में वह सहायक हुआ है किन्तु जीवन दर्शन ? एक नये जीवन दर्शन के निर्माण में डार्विन की देन कहीं बड़ी थी और आइन स्टाइन की भी और फ्रायड की भी । आधुनिक युग का कोई भी सन्तोषजनक जीवन दर्शन किसी एक व्यक्ति के अवदान पर आधारित नहीं हो सकता । वह कोई क्षेत्रों की कई प्रतिभाओं के अवदान का और कई विज्ञानों के शोध की उपलब्धियों का समन्वय है । चुपचाप जीना, साधारण मनुष्य बनकर जीना शायद किसी युग में नहीं था । आज के मुखर युग में चुपचाप रहने से अधिक असाधारण क्या होगा ? चरम सुख, चरम उपलब्धि यही है कि जीवन के अन्त तक उसके संपूर्ण और एकान्त अनुभव की क्षमता बनी रहे ----- इसका अर्थ गलत समझा जा सकता है चरम उपलब्धि है डर से मुक्ति । डर है तो जीवन का संपूर्ण और एकान्त अनुभव हो नहीं सकता । कला भी एक प्रकार या क्रिया है अर्थात् सत्य की उपलब्धि की एक साधना है ।

'अंशदान '[32] शीर्षक निबंधानुसार भारत की परिस्थितियां ज्यों- ज्यों

ज्यों ज्यों हमारी राजनीति अधिक तीव्र रूप में ध्रुवाभिमुख्य होती जा रही है।

विकसित होती जाती है, निस्सन्देह दोनों दलों के भीतर अनेक उपदल है। जिनके अलग-अलग दृष्टिकोण और स्वार्थ है किन्तु दो मुख्य दलों के विरोध की इतनी चर्चा होती रही है कि- आजकल के राजनीतिक विषादों में एक भीषण एकरसता लक्षित होती है। युद्ध बर्बरता है और जो युद्ध करते हैं वे या तो पहले ही न्यूनाधिक बर्बर और असंस्कृत होते हैं या युद्ध कर्म की योग्यता और दक्षता प्राप्त करने के लिए अस्थायी रूप से अपने को निम्न तर तल पर लाते हैं। जो मानव जाति में और उसकी सेवा में आस्था रखता है- जो अन्त में एक बौद्धिक गूंगेपन की अवस्था को पहुंच जाता है- उसकी आत्मा की घिग्घी बंध जाती है। प्रतिभा के बारे में विचार प्रस्तुत है, सभी में न्यूनाधिक दक्षता दिखायी है। रेखांकन, चित्रकारी, मूर्तिशिल्प, कविता और गद्यलेखन। अभिव्यंजना कौन सा माध्यम चुनती है इसका महत्व कम है। हमारे साहित्य का एक खतरा यह है कि उसे कोई खतरा नहीं है वह अत्यन्त सुरक्षित है- बन्द कमरे में कृत्रिम रूप से पनपाये गये पौधों की तरह। यहां पर निबंधकार ने पत्रात्मक भाषा का प्रयोग किया है- आपका पत्र मिला- लगा कि उत्तर क्या हो सकता है? प्रश्न यह है कि क्या मैं सेना को जीविका मान सकता हूं या मानू ? एक 'प्रोफेशन' के रूप में उसे लेता तो अवश्य सोचता कि वह प्रोफेशन जोखिम का है या आराम का, उसमें स्थायीत्व कम कितना है, पर सेना के अनुभव ने युद्ध के बारे में मेरा दृष्टिकोण बदल दिया है कह नहीं सकता कि यह केवल अस्थायी मानसिक प्रभाव है या कि अनुभव जात बौद्धिक निष्कर्ष किन्तु आज जो मानता हूं कि आगामी युद्ध में प्रत्येक युद्ध का अन्त आगामी युद्ध के बीज बो देता है। उसे शांति समझना प्रवंचना है। युद्ध और कुछ हो भी नहीं सकता, युद्ध में हम अपने अस्त्र नहीं चुनते। युद्ध की बुराई अन्तत: सेना की बुराई है। क्योंकि एक दूसरे का आलंबन है। दैनिक जीवन से जो अनुभव मिला उसका अपना ही महत्व है, किन्तु और भी अप्रत्यक्ष और अप्रत्याशित अनेक लाभ हुए हैं।

यहां पर स्वयं लक्षित साहित्यिक प्रकार के निबंध भी वर्णित किए गए हैं। निबंधकार कहते हैं कि मेरे अपने मन में जो सन्देह होता है उसका भी पहले निवेदन कर देना चाहिए। स्वयं कविता का ही कविता से क्या सम्बंध है ? बात को मैं यहां से आरंभ करना चाहता हूं। 'मेरी पहली कविता'[33] शीर्षक निबंधानुसार कविता के सम्बंध में मेरी क या धारणा कैसे बनी ? शब्द का सार्थक, साभिप्राय, रसात्मक, प्रयोग किया जा सकता है यह सम्भावना कैसे मेरे मन में उदित हुई- 'नाचत है भूमिरी' । वाक्य सचमुच दो अर्थ देता है । मेरी भंवरी ही नहीं, भूमि भी नाचती है । सारा विश्व-ब्रह्माण्ड नाच रहा है । मैं कभी नहीं भूला हूं कि शब्द शक्ति का रूप है। शब्द का सार्थक प्रयोग सिद्धि है । अनुप्रास और लय इनकी पहचान अपेक्षाया सरल भी होती है, सहज भी । अबोध शिशु लोरियां सुनकर ही इन तत्वों को पहचानने लगता है। वह एक दूसरी ही कोटि का बौद्धिक आनंद है । ग्यारहवें वर्ष में एक ओर टेनिसन की कविता से परिचय हुआ तो दूसरी ओर असहयोग के पहले दौर से और तत्कालीन 'प्रिंस आफ वेल्स ' की भारतयात्रा के बहिष्कार के आंदोलन से । इसी समय स्वामी दयानन्द की गंगा को लक्ष्य करके उद्‌बोधनात्मक कविता भी पढ़ी-

> गंगा उठो कि नींद में सदियां गुजर गयी ;
> देखो तो सोते सोते ही बरसें किधर गयी ।

इसके छन्द पर, भाषा पर शैली पर टैनिसन की गहरी छाप थी । इन्हीं दिनों गुप्त जी की कविता के अतिरिक्त मुकुटधर पाण्डेय, श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' रामचरित उपाध्याय और प्रेमयोगी देवेन्द्र की कविता से परिचय हुआ । कहानी तो इन दिनों तक एक छप भी चुकी थी- इलाहाबाद की एक बालचर पत्रिका 'सेवा' में। यह जिस समय लिखी गयी उसी समय में अंगरेजी 'गीतांजलि' के प्रभाव में उसी ढंग से रहस्यवादी गद्यगीत भी लिखने लगा था । पहली कविता अब 'चिन्ता' में संगृहीत है। इस पर ठाकुर जी की 'गीतांजलि' का प्रभाव परोक्षरूप से रहा ही । इन दिनों

कहानियां भी लिखी- एक उपन्यास भी, लेकिन जेल जाने के बाद से जोरों से लिखना शुरू किया- उपन्यास, कहानी, कविता, निबंध सभी कुछ। निबंधकार कहते हैं कि पुराना या `बुजुर्ग` लेखक होने के मोह में न पड़कर मैं अपने रचनाकाल का आरंभ तभी से मानता हूं और इसी श्रृंखला की पहली कविता को ही पहली कविता कहना भी न्यायसंगत होगा। `प्रवृत्ति : अहं का विलयन`[34] शीर्षक निबंधानुसार आधुनिक काव्य में `दृश्य` और `श्रव्य` का पुराना भेद कम महत्त्व रखने लगा है। आधुनिक कविता में दृश्य और श्रव्य के भेद मिटाने के बहुत से साधन बरते जाते हैं उनका उल्लेख यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि आधुनिक कविता न केवल दृश्य यानी दृष्टि गम्य है न केवल श्रव्य यानी श्रवण गम्य। भारतीय और यूरोपीय काव्य शिल्प में एक अन्तर यह भी है कि अनुप्रास का प्रयोग तो हमारी कविता में यों भी और अर्थ पुष्टि के लिए भी होता है पर स्वरों की शक्ति का उतना नहीं। जबकि अंग्रेजी काव्य में अनुप्रास घटिया अलंकार है और अभिव्यंजना के लिए स्वरों का भरपूर उपयोग होता है। आज का एक वर्ग ऐसा भी है जो कविता को न केवल समाजशास्त्र का आनुषांगिक मानता है। बल्कि समाज की आलोचना भी सीधे-सीधे छन्दोबद्ध अभिधा में मांगता है। यह कविता की आधुनिक दुर्गति है जैसे कि साधना और खोज। दुहाई देने से ही कविता नहीं निकलती और अपने प्यार के बदले अपनी भूख का दुखड़ा रोने से कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। केवल श्रोता के लिए वह दुखड़ा और भी कम प्रीतिकर हो जाता है। भावना प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है। गांवों की संस्कृति जिन नैतिक मान्यताओं के साथ न बंधी थी शहरों की सभ्यता में उनके लिए स्थान नहीं है, और उनके बदले कोई दूसरे मान स्थापित किये गए हों ऐसा भी नहीं है। किसी कवि की कविता में प्रवहमान अन्तर्धाराएं क्या हैं। यह पहचानना वास्तव में कवि का नहीं आलोचक का काम है। वास्तव में आधुनिक कविता की विशेषता यह है कि वह कवि के व्यक्तित्व के साथ अधिकाधिक बंधी हुई जा रही है।

`वर्गवृत्ति`[35] शीर्षक निबंधानुसार गणित शास्त्र और तर्कशास्त्र दोनों वर्गवृत्त

को असम्भव मानते हैं। हमारी अवधारणा में देश अथवा दिक् हमेशा चौखूंटा अथवा वर्गाकार होता है और काल हमेशा वृत्ताकार। लेकिन मैं न गणितज्ञ हूं न तर्कशास्त्री। मैं साहित्यकार हूं। साहित्य निरन्तर इस बात की पहचान करता रहता है कि हमारे जीवन की वस्तु, चिन्तन की कोटियों और अनुभवों की कोटियों में बंटती रहती है संस्कृतियों की टकराहट होने पर अनुभव और चिन्तन की इन कोटियों में दूरी आ जाना स्वाभाविक है। संस्कृत नाटकों में मंगलाचरण और नान्दीगान होता है, यह सभी प्रबुद्ध पाठक जानते हैं किन्तु स्वयं मंगलाचरण किस सूक्ष्म कौशल से सामाजिक काल के एकाधिक आयामों में अवस्थित कराता है एकाधिक प्रकार — काल की प्रतीति कराता हुआ उसे जाने-अनजाने 'वर्तमान की पहचान' और 'अर्थवता के बृहत्तर संदर्भ' दोनों से जोड़ देता है इसकी चर्चा संस्कृत नाटकों की विवेचना में हमने नहीं देखी। मंगलाचरण के पहले तीन चरण हमें निरावधि काल का संकेत देते हुए उसके महावृत्त में स्थापित कर देते हैं। चौथा चरण हमें शान्त और सावधिकाल के उस छोटे से वृत्त में समेट ले जाता है जो हमारे साधारण जीवन की परिधि है। उसी तरह हमारा नश्वर जीवन भी समरत्व के बृहत्तर आयाम से घिरा हुआ है। आधुनिक जीवन का घड़ी से अनुशासित काल वास्तव में हमारे कालबोध में एक असन्तुलन पैदा करता है। हमारी संचित स्मृति को विकृत कर हमारे व्यक्तित्व को संकीर्णतर बनाता है।

'शाश्वतकाल: इतिहास का क्रम'[36] शीर्षक निबंधानुसार अलग-अलग वर्ग के लोग काल के अलग-अलग आयाम में रहते हैं। काल को मापने के, किसी भी घटना की अर्थवान प्रतीति के लिए उनके मानदण्ड अलग अलग होते हैं। काल की प्रतीति तो हर किसी को होती है लेकिन एक व्यक्ति या वर्ग की काल प्रतीति को दूसरे वर्ग के लिए प्रतीत्य कैसे बनाया जा सकता है यथार्थ कैसे बनाया जा सकता है? एक जानी सुनी कहानी को बालक दोबारा ठीक ज्यों का त्यों इसलिये सुनना चाहता है कि दोबारा सुनने के निमित्त से वह एक प्रीतिकर अनुभव का पुनरानुभव करना चाहता है। क्या शिशु का संसार केवल भ्रम अथवा मोह का संसार है या कि वह भी यथार्थ का। सत्ता का

एक आयाम है? घड़ी की दोनों सुइयां जब एक विशेष स्थिति में होती है तब दोपहर मानते हैं । एक फलक पर धातुकी दो सुइयों की दिशा अथवा स्थिति क्या है ? साहित्य में काल की प्रतीति की समस्याएं मूलत: मानवीयकाल की प्रतीति और उसके सम्प्रेषण की समस्याएं हैं । साहित्य किसी एक काल में किसी एक जाति अथवा समाज की संपूर्ण संस्कृति की उपज होता है उसके वर्तमान में संस्कृति का समूचा इतिहास निहित होता है। किन्तु जिसे हम वर्तमान कहते हैं वह हमारे कहते-कहते अप्रीति रुद्ध गति से लगातार अतीत होता चला जा रहा है । सूर्य पर आधारित काल सौर काल भी पूरी तरह समप्रवाह नहीं है । काल की इस गणना में आवश्यक संशोधन करने के लिए गणितशास्त्र एक दूसरी घड़ी को प्रमाण बनाता है । जिसका आधार सुदूर तारे हैं । समप्रवाही काल को जानने के लिए यान्त्रिकी के नियम जानना जरूरी है और यांत्रिकी के नियम तथा आत्मगत पद्धति के लिए असमप्रवाही काल होगा आवश्यक है । गणितशास्त्री भी यह स्वीकार करता है कि ऐसे विश्व की कल्पना की जा सकती है जिसमें हेतु और हेतुमू- हेतुमतूका सम्बंध पूर्व और अपर का सम्बंध न हो । अतीत और भविष्य समकालीन भी हो सकेगा । दो बिन्दुओं की एक समय में स्थिति निश्चित करने का प्रश्न एककालिकता का ही प्रश्न है । हम एक `सार्वजनिक काल निर्धारित कर सकते हैं । यह काल जिसकी माप हम घड़ी और ~~इसके आधार पर हम इतिहास~~ जन्त्री पंचांग की सहायता से करते हैं । इसके आधार पर हम इतिहास की घटनाओं को एक अर्थपूर्ण संगति अथवा अनुक्रम में गूंथना संभव बना लेते हैं । कालगणना की इस युक्ति के सहारे हम असंख्य और विचित्र सामाजिक,आर्थिक, औद्योगिक कार्यों प्रक्रियाओं की माप का भी एक उपयोग प्राप्त कर लेते हैं । इतिहास का जगत इतना जटिल और विखंडित हो जाता है कि उसके तत्वों को किसी एक सार्थक ढांचे में नहीं बैठाया जा सकता । आधुनिक काल यदि ऐतिहासिक काल है तो आधुनिक साहित्य की कसौटी भी उस काल का प्रत्यय और उसकी काल निरूपण की पद्धति होगी। जो लोग स्वभाव से धुनी होते हैं उनका कालबोध कुछ विशिष्ट प्रकार का होता है ।

आत्मकथ्य :

इस प्रकार के निबंधों में अज्ञेय ने `मैं ` की शैली में अपने विचार व्यक्त किये हैं

भवन्ती शीर्षक पुस्तक में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं- मैं मानता हूं कि विचार, सूत्र, आइडिया कभी नहीं मरता इसीलिए मैं हर विचार को पकड़ लेने के लिए आतुर नहीं होता। विचार कैसे होते हैं ? सभी विचार ऐसे नहीं होते कि उन्हें सभ्य या पालतू बनाया जा सके। कुछ विचार ऐसे वनविहग होते हैं कि उन्हें खुले में ही विचरते रहने देना चाहिये। इसी में उनका स्वास्थ्य है।[37] यहां पर अपनत्व की भावना निबंधकार के मन में आती है। वे कहते हैं मैं। अपनी दुनिया में रहने का आदी हो गया हूं। वह दुनिया मैंने ही बनायी है। मैं ही मिटाऊंगा। वास्तविकता की पहचान क्या है, जब तक कि पहचानने वाले की कोई पहचान हमें न हो ? और जब मैं पहचानने वाले के रूप में अपने को पहचानता हूं, तो क्या मैं अपने को बनाता, रचता नहीं हूं ?[38]

सुन्दरता के बारे में कहते हैं कि पतझर के झरते पत्ते से अधिक सुंदर किसी चीज की कल्पना नहीं कर पा रहा हूं आगे उदाहरण के लिए जैसे कि लय के साथ डोलता हुआ झरना मानों धरती के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होकर भारमुक्त होकर तिरना और उस मुक्त होने में लय पहचानना और उसके साथ एकप्राण होना। सृष्टि मात्र में इससे बड़ा सौभाग्य क्या और इससे बड़ा सौन्दर्य क्या-----यह बात पत्ते के बारे में जितनी है उससे खुद निबंधकार के बारे में - अधिक है। गति का उनके लिए प्रबल आकर्षण है।[39] लेखक होने के नाते दूसरे तक पहुंचना-उसके भीतर बैठकर उसे अपने भीतर पैठने देना- अनुभूति स्वतः प्रमाण होती है, पर उसकी पहचान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकती। क्योंकि पहचान जिस यंत्र से होती है वह साझा है।[40]

जीना चाहता हूं, जीवन से विरक्ति नहीं है न उसके उत्तरदायित्वों से भागना चाहता हूं। 'गतिशील' डायनैमिक समाज का यह मूल्य है शायद, और अपनी

छाप मिटाने के तथा अपनी अस्मिता के मिटने में क्या बहुत बड़ा अन्तर है ? क्या समाज की गतिशीलता समाज के भीतर इकाई की चलनशीलता का अनिवार्य परिणाम एक बना बनाया, 'आइडेंटिटी' है ?'[४१] गो पूजा का युग वास्तव में बीत गया है जो भारतवासी गोपूजक रहे वे कम से कम एक तर्क तो अपने पक्ष में दे सकते थे कि गाय एक कृषि प्रधान सभ्यता की जीवन विधि का केन्द्र थी। एक मूल जीवनोपाय और जीवनाधारक । लेकिन आज के अंग्रेजों के पास अपनी कुक्कुट पूजा के समर्थन में क्या युक्ति है? क्योंकि बिल्ली के उपासकों का एक अल्पतर सम्प्रदाय छोड़कर समूचा राष्ट्र कुक्कुट पूजकों का राष्ट्र है- और वह भी आज ।

निबंधकार कहते हैं कि मंदिर में जाना मुझे अच्छा लगता है मंदिर में जाने से मन को शांति मिलती है। मन शुद्ध रहता है। वैसे आज के आधुनिक युग में मंदिर मंदिर नहीं रहे हैं । वह आज के प्रतिष्ठित पुराखंड बन गये हैं जिसमें शांति मिलती है परन्तु असंख्य जनों की पहले वाली उदात्त भावनाएं, और आत्म साक्षात्कार, गहनतम आशा, आकांक्षाएं सही रूप में नहीं मिलती- 'और आज-----तीर्थों में देवदर्शन पर टिकट लगता है: पर्ची न कटाइये तो दर्शन नहीं होते । मन्दिर के बाहर चक्कर चक्कर काट लीजिए ।'[४२] आज धर्म का व्यावहारिक, और अनुष्ठानिक रूप संकीर्ण, ऐहिक, वल्गर और गंदा होता जा रहा है । संक्षेपतया देखें तो सही रूप में मनुष्य की देह को ही मंदिर कहा गया है । 'शुष्के नीरे कः कासार नष्टे द्रव्येकः परिवारः इसलिए भज गोविन्दम् । आज के युग में गोविंद ही अब किस फेरें।[४३] आज तो पंडों की यूनियन है आज मन्दिर कोई नहीं जाता, अर्थात् भगवान का स्मरण कोई नहीं करता, इसीलिए अस्पताल की विजिट हो गयी । आज देवता और भक्त के बीच का अंतर बढ़ रहा है। अर्थात् भगवान के प्रति भक्त का जो कर्तव्य या भक्तिभाव होता है वह नहीं रहा है । अब या तो देवते भी एक जवाबी यूनियन बनाकर कहें कि हमारे फंडामेंटल राइट्स में बाधा हो रही है ।' भक्त का भगवान के प्रति जो अधिकार होना चाहिए वह नहीं रहा ।

भाषा के बारे में निबंधकार अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं भाषा हमारी ~~सबसे~~ सबसे पुरानी सबसे कड़ी अनुल्लंघ्य सांस्कृतिक रूढ़ि है । मनुष्य की भाषा जिस हद तक खिचड़ी या अनगढ़ है, उस हद तक उसके संस्कार भी अनगढ़ या खिचड़ी है । भाषा का कोई बंधन नहीं होना चाहिए। कवि को भाषा का कोई बन्धन नहीं है। वह पुरानी परम्परा को बदलता चलता है । परम्परा को नित्य नया रूप देते रहता है । `कवि भाषा नहीं लिखता, शब्द लिखता है ।` वह अपनी रचना में शब्द को निरन्तर नया संस्कार देता है। कहीं-कहीं भाषा की रूढ़ि को तोड़ता भी है तो कहीं-कहीं रूढ़ि बदलता भी है । भाषा की रूढ़ि ब टूटती है, पर शब्द का संस्कार और भी समृद्ध हुआ करता है । इस तरह छन्द के बारे में कहते हैं कि छन्द काव्य में आवश्यक होना चाहिए। छन्द के द्वारा साधारण बोलचाल के गद्य की लय नियमित होती है, स्वरों को स्पष्टतर करता है। भाषा की गति को धीमा करता है । काव्य में छन्द मय उक्ति हमें शब्दार्थ भर नहीं देती- रंजना विशिष्ट भावार्थ देती है । संक्षेपत: देखें तो `छन्द काव्य भाषा की आंख है । भाषा अपने को केवल सुनकर भी काम चलाती है, काव्य-भाषा अपने को देख भी लेती है ।`[44] आज के लेखकों की प्रतिभा मर गई है । सभी लेखकों के लिए अंग्रेजी भाषा का महत्व बढ़ गया है या कि अंग्रेजी घुन सबको खा गया है । मध्यमवर्ग के लोग भी पैसे कमाने की धुन में है। अर्थात् मध्यमवर्गीय घर में कमबख्त मनीप्लांट पनप रहा है ।

आज निबंधकार कहते हैं कि मैं अंग्रेजी शिक्षा पाकर ही जो बना सो बना- अंग्रेजी के सहारे ही बुद्धि का विकास होता है । यहां पर राजाराम मोहनराय का उदाहरण देकर बताया गया है कि उनके जैसे सुलझे हुए स्पष्टदर्शी, तीक्ष्ण बुद्धि और तर्क से सोचने-बोलने और लिखने वाले कम ही हुए हैं । परम्परा पर पली हुई बुद्धि ने ही अंग्रेजी के सहारे पश्चिम का मुकाबला किया था । संक्षेपतया पहले हमें अपनी भाषा सीखनी चाहिये । अपने को पहचानना चाहिए, बाद में दूसरों की भाषाएं भी

सीखनी चाहिए, उसके सहारे अपना शोध भी करना चाहिये ।[४५]

यथार्थ के आग्रह का एक पक्ष एक विशेष कोटि के पदार्थ की ओर झुका है पर स्थूल यथार्थ कला का यथार्थ नहीं है, कला में यही यथार्थ है, जिससे सम्बद्ध, सम्पृक्त हुआ जा सके । सम्बद्ध यथार्थ ही कला का यथार्थ है इसलिए चेतना द्वारा नियंत्रित और शोधित ऐन्द्रिय बोध आवश्यक हो जाता है ।

संस्कृति का चित्रण चित्रित किया गया है । 'संस्कृति को जीवित रखने के लिए सजग नियति बोध अर्थात् - 'सेंस आफ डेस्टिनी' की आवश्यकता है',[४६] जो गान्धी और नेहरू के समय तक था, आज वह हममें नहीं है । आज 'सारा देश एक टुक्कड़ खोर ज़िन्दगी जी रहा है', राजनीति, संस्कृति, शिक्षा, धर्म सभी में टुक्कड़ खोरी चल रही है । अर्थात् मनुष्य खाने के लिए भीख मांगता है, सिर्फ इतना ही नहीं आज के मनुष्य में विचारशक्ति, कल्पना, एवं आत्म विश्वास तक नहीं रहा है। वह दूसरे के विचारों पर, कल्पना एवं आत्म विश्वास पर चल रहा है इसी कैसे वह कुछ नया सर्जन भी नहीं कर पाता । यहां पर नियतिबोध को महत्व देते हुए बताया गया है कि मनुष्य में नियति बोध होगा, तभी आत्म विश्वास होगा और सृजन की सम्भावना रहेगी । संस्कृति का एक पक्ष होता है जो प्रतिष्ठान है। इस पक्ष का एक विभाग होता है जिसे सरकारी प्रतिष्ठान का अनुमोदन मिला होता है । अपने तत्कालीन सूत्रधारों को अपने हित में उपभोज्य करने का आशय उसे अनिवार्यता हेय या कुत्सित घोषित करना नहीं, केवल उसे उसका सही, गौण स्थान देना है । सांस्कृतिक मंडल को लेकर कहा जाता है कि पूर्व और पश्चिम के लिए ऐसा सांस्कृतिक मंडल होना चाहिए जिसके सदस्य साहित्यकार और कलाकार तो हों और वह निरे 'उदीयमान' या 'नवोदित' भी न हों । ऐसे ही कलायात्रियों के ज्ञान-बुद्धि से मनोजगत और भावजगत में वह समीर उठेगा जो संस्कृतियों को गति देता है, और उसे क्रियाशील बनाता है । ऐसा होता है कि संस्कृतियों के बीच परस्पर विनिमय के मार्ग तो खुले हों पर उनके

पास एक-दूसरे को देने को कुछ न हो ।

'नीम के पत्तों की झड़ी सी लगी है : वे लगातार ऐसे झर रहे हैं मानो पेड़ ऊबकर जी कड़ा करके बदन हिलाकर उन्हें झाडे दे रहा है ।[47] यहां पर श्रम तो चिरन्तन, कालातीत माना गया है। प्राचीन काल में ऋषि लोग लम्बे समय तक तप करते थे और फिर वर पाते थे । मगर श्रम कालातीत है- कितने ऋषियों के तप विलीन हो जाते हैं। ~~बदलता-है-जै~~ काल बदलता है वैसे-वैसे कितने ही नगर बनते हैं और नष्ट भी होते थे, राजा और शासन भी उठते हैं और डूब जाते हैं । इस तरह से खण्डहरों पर दूसरे नगर, दूसरे राजा, प्रशासक । निर्माता, अध्येता, साधक, आदर्शसेवी आदि क्रम से आते जाते रहे मगर वह कालातीत है । कोई अपने लिए श्रम करता है तो कोई दूसरे के लिए । कई काल से यह विषमता चली आ रही है । आशा और आस्था दोनों चिरन्तन है । एक दूसरा भी पहलू है पहले था तरल बाष्प। जिसमें था रेडियम और थी हाइड्रोजन । रेडियम से जीव तत्व बना, हाइड्रोजन से पानी, जीव तत्व से उस पानी में मछली । आज मनुष्य सिर्फ मछलियों को नहीं सारे वायु मंडल और सारी धरती को विषाक्त कर रहा है लेकिन दूसरा पहलू है वह निर्माता मानव, जो पत्थर तोड़ता है, मिट्टी फोड़ता है । लेकिन जो पानी से सींचता है । जो प्राणों से सींचता है - इसलिए स्रष्टा है, जो शक्तियों का शासक और शक्ति का स्रोत है ।

साहित्य और राजनीति- सामाजिक वायु का सबसे बड़ा दूषण आज राजनीति है । साहित्य और राजनीति के प्रश्न का साक्षात्कार पहले पहल प्रगतिवाद ने किया था । महाभारत अगर राजनीति का उपदेश करता है, राजोचित आचरण के मानदण्ड स्थापित करता है, तो वह क्या है ? क्षेमेन्द्र देशोपदेश में समकालीन शासकों पर तीखे व्यंग्य करते हैं तो वह क्या है ? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल की कविता राजनैतिक नहीं थी ? पहले यह माना जाता था कि राजनीति पर कविता

का एक हीनतर, सीमित उपयोग है । कुछ नये कवि काव्य से न केवल राजनीति को बल्कि- समाज को ही बहिष्कार करने योग्य मानते थे अर्थात् वे प्रति राजनैतिक हो गये थे । यहां पर सवाल उठता है कवि और राजनीतिक का । राजनैतिक नागरिक के मूल्यों की टकराहट ~~सर्वव्यक्ति~~ साहित्यिक मूल्यों से होती है । पर`काव्य बदलता है त इसलिए कि कवि बदल गया है ।`[४८] अर्थात् कवि की संवेदना राजनीति के बदलने से नहीं बदलती और काव्य को बदलने से समाज को हम बदल नहीं सकते । साहित्यकार समाज को इसलिए बदलता है कि वह स्वयं बदल गया है ।

`व्यक्तिवाद` और समाजवाद` सांस्कृतिकता के आधार बिन्दु हैं । उदाहरण जहां ग्राम-समाज पर आग्रह है, वहां ~~स्वतन्त्र~~ स्वातंत्र्य का आधार व्यक्ति नहीं, ग्राम है वहां दोहरी प्रवृत्ति लक्षित होती है । ग्रामीण व्यक्ति ग्राम-समूह की इकाई ही रहता है, और यह एक सीमा तक या सांस्कृतिक स्तर तक ही, उसके बाद व्यक्ति संस्कृति पर प्रबल आग्रह है । वही मुक्ति का साधन है । `चीजों ` के`नाम` होते हैं। वाक् सिद्धि में चीज और नाम के सम्बंध को ही नहीं बल्कि नामों के आपसी सम्बन्ध को महत्व दिया गया है । कवि की रचना में शब्द से शब्द का सम्बंध को महत्व दिया गया है । कवि की रचना में शब्द से शब्द का सम्बंध का पता चलता है, यह सम्बंध कैसा है, यह परखने से कवि कहां तक शब्द का धनी है यह हम समझ सकते हैं । भाषा सम्बंधी विचार प्रस्तुत किए गए हैं । भाषा के विकास के बारे में जो धारणाएं हैं वे सब मिथ्या है आज लोग बनी -बनायी और बनती भाषा को और भी दरिद्र बना रहे हैं । हिन्दी में भी ऐसी प्रवृत्ति रही है, पर किसी साहित्यकार ने इसे प्रोत्साहन नहीं दिया, यही हिन्दी भाषा का सौभाग्य है । हिन्दी निरन्तर विकासमान भाषा रही है, वह बदलती रही है । इसका स्थिर, प्रामाणिक और मानक रूप भी है ।`भाषा के विकास के बारे में जो भ्रान्त धारणाएं हैं वे ये भ्रान्ति भाषा का घोर अहित कर रही है ।[४९] यों हम भाषा के गुलाम हैं । भाषा मनुष्य

की सबसे मूल्यवान सृष्टि है क्योंकि सच्चाई को पहचानने, अपना लेने, `नाम देने` का वही एक साधन हमारे पास है और वही हमें पशु से अलग करता है जिसके आसपास चीजें हैं। पर नाम नहीं है। पर ठीक इसी स्थिति में भाषा जवाब दे जाती है और हमसच्चाई से कट जाते हैं।

टैकनीक[५०]: काल-निदेश का एक टेकनीक होता है। टेकनीक से काल का बोध और निर्माण दोनों होता है। यहां पर कहानी की शुरूआत में टेकनीक बतायी गयी है। बुद्धदेव बसु की कहानी शुरू होती है : घरे थेके भ्रमर एल। कमरे से भ्रमर निकली। इस तरह अंग्रेजी में परी-कथा शुरू होती है वंस अपान एक ए टाइम देयर वाज-यहां पर काल की दूरी है, काल आज से दूर होने का स्पष्ट संकेत देता है। जबकि संस्कृत में अस्ति गोदावरी तीरे का काल निदेश कुछ भिन्न है। इसके अलावा पंजाबी की लोककथा का आरम्भ हमारे लिए दिक्काल बन्ध से मुक्त होने का ही नहीं यथार्थ के बंधन से मुक्त हो कल्पनालोक में प्रवेश करने का रास्ता भी खोल देता है। `इक सी नै राजा सी`- एक था तो राजा था- इस आरंभ और प्राचीन काल के `किसी जमाने में एक राजा था` में अंतर स्पष्ट लक्षित होता है इसे भी टेकनीक कहा गया है। किसी समस्या को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसे देश-काल से तोड ले जा सकते हैं। व्यंग्य की मार्मिकता के लिए यह टेकनीक विशेष उपयोगी है। सभी भारतीय भाषाओं में समकालीन यथार्थ की खोज वास्तव में भाषा की खोज रही है। आज का लेखक समाज के परिवर्तन के लिए कार्य करता है वह कोई यथार्थ को पकडना चाहता है। भाषा की पकड मे इसमें मुख्य है। आज का साहित्य वही है जो साहित्य अपने समय की चिंताओं,सन्देहों को व्यक्त करके, नए मूल्यों को पाने के लिए छटपटाता है, अभिव्यक्ति का इसमें मुख्य स्थान रहता है। आज की लडाई चेहरा विहीन शत्रु के साथ होती है। इसलिए हम उसे निरन्तर चेहरे देते रहते हैं।[५१]

पांडुलिपि के बारे में निबंधकार बताते हैं कि पांडुलिपि शोधने का काम

सघन एकाग्रता मांगता है । पाण्डुलिपि सम्पादन का क्षण रचना क्षण नहीं है, सही शब्द ढालना, उद्धृत करना और करते रह सकना ही तो कवि पद है । आजकल उपन्यास को ऐतिहासिक, सामाजिक , मनोवैज्ञानिक आदि कहा जाता है, मगर ऐसा कहकर मनुष्य ने क्या सिद्ध कर दिया । इस तरह मनोविज्ञान को भी हम बिना कहे मान लेते हैं कि मनोविज्ञान का अर्थ सेक्स मनोविज्ञान है । मगर बात मननेन्त्रि मनोविज्ञान या सेक्स- मनोविज्ञान की नहीं- बल्कि मनोवैज्ञानिक विशेषताओं और प्रवृत्तियों को परिवेश और समाज से जोड़ना है। उनके सम्बंधको विश्लिष्ट करके रखना है । जबकि उपन्यास में मुख्यत: समाज का चित्रण रहता है, सामाजिक विकृतियों का भी मुक्त चित्रण रहता है । `जब राजनीति केवल सत्ता कीसाधना है और अर्थशास्त्र केवल वैध लूट, तब क्या जरूरी है कि दर्शनशास्त्र भी इस स्थिति की समर्थन-संहिता बनकर रह जाये ।[५२] आज के युग में आधुनिक यंत्र सामग्री उपलब्ध है, मनुष्य का जीवन इसी यंत्रों के सहारे चलता है, यंत्रों की वजह से वह आज पंगु बन गया है । इसी तरह सत्ता पाने के लिए राजनीति के चक्कर में मनुष्य फंसता है, मनुष्य कर-उल्ल सीमा का उल्लंघन करता है सत्ता पाने के लिए। अर्थात् अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए। संक्षेपत: मानव मात्र की आज की दीनावस्था यांत्रिकी की विजय का परिणाम है । वर्तमान युग मेंसंस्थाएं और प्रतिष्ठान टूट रहे हैं- मनुष्य की विचार शक्ति बढ़ गयी है, वह अधिक जागृत हो गया है जैसे जैसे युग बदलता है अर्थात् काल के साथ-साथ मनुष्य भी उन्नति करता जा रहा है । जीवन के संघर्ष में कितने ही खतरों को वह मोल लेता है। वैसे छवि पूरा समाज भी जागृत होता है तभी संस्थाएं टूटती हैं। ये संस्थाएं मनुष्य से पीछे पड़ गयें हैं- खोखली हो गयी है। जब मनुष्य के विचार सम्पूर्ण स्वीकृति पायेंगे- `जब समाज विचारों के साथ कदम मिलाकर चल सकेगा-तब संस्थान फिर पनप सकेगा ।`[५३]

भारतीय कला को लेकर बहस हुई है, इन कलाओं में उत्कर्ष पर पहुंचने के बावजूद भी पंगुता नहीं रह गयी है यह प्रश्न पूछा गया है । भारतीय कला में दुख का

का स्थान ही नहीं है । यहां पर कला के सन्दर्भ में समाज को देखा गया है । अगर दु:ख मिथ्या है, तो फिर समवेदना आवश्यक है । आधुनिक जीवन का आधार सिर्फ मतवाद और तंत्र है ऐसा कहा गया है । आज हम पश्चिम की ओर दौड़ लगाते हैं यह जानते हुए ही कि वे (पश्चिम) प्रकाश के लिए छटपटा रहे हैं । फिर भी पश्चिम की पीटी हुई लीकों पर चले जा रहे हैं, इतना ही नहीं यह अनुकरण से हम उन्नति कर रहे हैं ऐसा मानते हैं, विकसित हो रहे हैं । इतना ही नहीं भारतीय और पश्चिम कला दृष्टियों का भेद बताया गया है । 'भारतीय संस्कृति ने मानों अपनी सर्जनशीलता खो दी है ।'[५४] आज संस्कृति टूट चुकी है, उसके अस्तित्व का हेतु क्या रहा यह पहचानने की अंतदृष्टि जैसे उसके पास नहीं है । भारतीय संस्कृति अपने जीने का कारण वह खुद नहीं सोच सकती। इसके लिए वह परायों की आशा करती है। आगे मिथक के बारे में बताया गया है कि मिथक अधुनातन और पुरातन में एक समान्तरता दिखाने का साधन है। आज हम जो जीवन जीते हैं उसका एक मिथकीय आयाम है । काल्पनिक स्वर्ग और नरक दोनों झूठ है । मिथक स्वयं हमारी अनुभूति के काल सन्दर्भ को अनुशासनीय बनाता है। यहां पर भारतीय गुरु शिक्षा पर निबंधकार हमें कुछ कहते हैं- प्राचीन काल से ऐसे अनेक उदाहरण गुरु-शिष्य के पारस्परिक कर्तव्य को प्रस्तुत करते हैं - यहां पर द्रोण और एकलव्य का उदाहरण दिया गया है- गुरु द्रोण ने गुरु दक्षिणा में एकलव्य का अंगूठा मांग लिया, यानी 'गुरु' का आदेश शिष्य के लिए यह हुआ कि वह फिर बा-नर बन जाय ।'[५५] वर्ग स्वार्थ की कितनी क्रूर युक्ति आस्पर्धा का कितना गहरा दण्ड । दूसरा उदाहरण प्रमथ्यु का है-प्रमथ्यु को देवों ने अग्नि चयन का रहस्य जान लेने के लिए दंड किया था। क्योंकि वह दंड देवों के हाथ से एक यंत्र विद्या निकल जाने का दंड था । मगर एकलव्य का दंड उससे छोटा नहीं था । हमारे लोक साहित्यों में कहीं कोई ऐसा नायक नहीं है जो द्विजों से बदला लेता हो- उन्हें नीचा दिखाता हो ।

दिवास्वप्न की बात की गई है[५६], दिवास्वप्न कर्म की कमी की क्षति पूर्ति

करते हैं । सागर का अच्छा लगना, यह दीवास्वप्न में चर्चित है । सागर का अतिशय आकर्षण मृत्यु कामना का एक रूप है । उस विशाल जीवन का जिसका कि मृत्यु एक अंग भर है सागर की हलचल को देखकर कभी-कभी बड़ी सांत्वना मिलती है । काल के साथ हमारा विचित्र सम्बंध है उसके विषय में भ्रान्तियां लेकर ही जीना हम पसन्द करते हैं । सही पहचान मानो जीवन को कठिनतर बनाती है । मेरा भूत, भविष्य मेरे बाहर कोई अस्तित्व नहीं रखता । कोई अर्थ भी नहीं रखता । सभी कुछ सदा संतुलित है । संसार कीस्थिति भी, समाज या परिवेश भी । यानी चिन्ताओं का कोई अन्त है ? और उन्हें अलग-अलग नाम देने चले तो वह अपने आपमें एक नयी चिंता बन जायेगी ।

`सपने मैंने भी देखे हैं`[57] शीर्षक निबंधानुसार नींद में देखे हुए सपने छाया से आकर चले जाते हैं और जो सपने हम जागते हुए देखते हैं वे हमारे जीवन पर छा जाते हैं। ये स्वप्न हमें कार्य करने की शक्ति देते हैं जो कार्य हमसे बिना उस शक्ति के कभी न हो सकते । ये जागते स्वप्न असल में आदर्श होते हैं। ऐसे स्वप्न एक आदमी भी देखता है, समाज भी और समूचा देश और राष्ट्र भी देखते हैं। बच्चों से अक्सर लोग पूछा करते हैं, `तुम बड़े होकर क्या बनोगे ? उसने (बच्चे ने) समझ लिया कि बड़े हो जाना ही सब समस्याओं का हल है । बड़े होते ही सब अड़चने दूर हो जायेंगी। सब ताकत मिल जायेगी । यहां पर निबंधकार स्वयं से `मैं` का माध्यम लेकर बात करते हुए अपने स्वप्न को प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार मेरा स्वप्न यह था कि मैं एक पोटली कन्धे की लाठी में लटकाये चला जा रहा हूं, मुझे घुमक्कड़ी पसन्द थी शहर हो कि जंगल, नदी नाले कि पहाड़ । समुद्र के रेगिस्तान, या तो तीर्थस्थान और पुराने खण्डहर में भी वे कभी पैदल, कभी घोड़े पर, बैलगाड़ी या ऊंटगाडी में घूमते थे । इस सपने को यथार्थरूप देने के लिए मैं(उन्होंने) एक लाठी पोटली तैयार करके छिपाकर रख छोड़ी थी । यह पोटली मेरे पास सात आठ बरस रही। सपना अब भी मेरे पास है । एक और सपना था किताब छापने का । उस काल में बहुत से लोग ऐसा मानते थे कि पढ़ना

हो तो संस्कृत -फारसी पढ़े, हिन्दी का क्या है वह तो अपने आप आ जायेगी। हिन्दी को जानने के लिए संस्कृत और फारसी दोनोंका जानना और उर्दू से परिचित होना आवश्यक है। आगे 'अज्ञेय अपनी निगाह में'[५८] शीर्षक निबंधानुसार कला की बात करते हुए बताया गया है कि एक निगाह से देखना कलाकार की निगाह से देखना नहीं है। स्थिर परिवर्तन हीन दृष्टि सिद्धान्तवादी की हो सकती है और भारतीय विश्वविद्यालय के सन्दर्भ में अध्यापक की भी हो सकती है। कलाकार की निगाह वह - जो जितना कुछ देखता है उससे भी आगे बढ़ने को विवश दिखाई पड़ती है। अपने बारे में लिखना तो आजकल का एक रोग है, यह रोग इतना व्यापक है कि जिससे भी यह नहीं है वह मानो बेचैन हो उठता है कि मैं कहीं अस्वस्थ तो नहीं हूं ? लेखकों में कई ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने सिवा कुछ देखा ही नहीं है। बहुत से कलाकार उससे भी छोटादायरा बना लेते हैं जितना कि अज्ञेय का है। 'एकान्त जीवी होने के कारण देश और काल के आयाम का उसका बोध कुछ अलग ढंग का है। उसके लेखन में विशेष रूप से कविता में यह आकर्षण मुखर है, पर जीवन में उतना ही प्रभावशाली है। लययुक्त गति के साथ-साथ उगने या बढनेवाली हर चीज में उसके विकास की बारीक से बारीक क्रिया में अज्ञेय को दिलचस्पी है। समाज को बदलते चलने से अज्ञेय बारबार अपने को जांचता है कि कहां तक उसके विश्वास और उसके कर्म में सामंजस्य है या कि कहां नहीं है। एक साथ ही चरम निश्चलता का और चरम गतिमयता का आकर्षण अज्ञेय की चेतना के अन्तर्विरोध का सूचक है। घर का फर्नीचर भी अज्ञेय अपने डिजाइन का बनवाता है। रूढ़ि और परम्परा अलग-अलग चीजें हैं, यह उसने समझ लिया है। वह मानता है कि कवि या कलाकार ऐन्द्रिय चेतना की उपेक्षा नहीं कर सकता। और परिस्थितियों ने उसे इसकी शिक्षा भी दी है कि ऐन्द्रिय संवेदन को कुन्द न होने दिया जाय। जब अज्ञेय को ऐसे लोग मिलते हैं जो गर्व से कहते हैं कि हमें तो खाने में दाल में नमक कम है या ज्यादा - यह भी लक्ष्य नहीं करते तो अज्ञेय को हंसी आती है। यह केवल एक विशेष प्रकार की पंगुता है। अज्ञेय मानता है कि जो लोग अपने हाथों का सही उपयोग नहीं करते उनकी मानसिक सृष्टि में भी कुछ विकृति या एकांगिता

आ जाती है । प्राचीन काल में इसीलिए कवि कर्म को कला नहीं गिनाया जाता था । हाथों से चीजें बनाने के कौशल का प्रभाव रचना पर भी पडता है । अज्ञेय हिन्दी के हाथी का दिखाने का दांत है। अज्ञेय नियतिवादी नहीं है लेकिन स्वीकार करता है कि चरित्र की कुछ विशेषताएं जरूर ऐसी होती है जो व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती है ।

`हो आप्रकरण-१`[५६] शीर्षक निबंधानुसार हजारों वर्षों से कवि लोग इस सवाल का जवाब खोजते आये हैं या बनाते भी आये हैं कि अपने सपनों की, अपनी कल्पना की वह कैसी होगी। इस पर कोश-कोश भर शब्द खर्च करके भी कवि अघाते नहीं है । `कैसी न होती वह` के बाद दूसरी बात जो पुरुष समाज, और कवि चाहता है `कैसी होती वे` ही उसकी कल्पना का असल विषय होता है । सबसे बड़ा सौभाग्य तो यह हो कि `वह जैसी है वैसी ही होती और वैसी ही रहे । वह कितनी ऊंची है ?` कि मेरे दिल तक पहुंचती है ।

`हौआ प्रकरण-२`[६०] शीर्षक निबंधानुसार मैं कैसी स्त्री चाहता हूं ? इसका जवाब आसान नहीं है । जब दामाद अपनी स्त्री के वश में होता है, तब कन्या देवी जान पडती है इससे विपरीत जब पुत्र अपनी स्त्री के वश में होता है तब वधू डायन हो जाती है, और पुत्र नालायक । पुरुष की नजरों में या प्रत्येक पुरुष दो प्रकार की स्त्रियां चाहता है । दूसरों की स्त्रियां स्वभाव से मिलनसार, देखने में आकर्षक, अतिथि सत्कार में दक्ष, कर्तव्य निष्ठ आदि गुणों वाली होनी चाहिए। घूंघट पर्दा और `घरेलू` आदर्श उनके लिए खंडित करने चाहिए । लेकिन अपनी स्त्री में एकाग्रता संयम, होना चाहिए । आजकल का विज्ञान कहता है कि स्त्री स्वभाव से रूढ़िवादी है जबकि पुरुष क्रान्तिवादी । प्रकृति ने आरंभ में मानवेतर प्राणियों को एकपत्नी व्रती बनाया था लेकिन जब प्रकृति की उत्पत्त शीलता ने उसके आगे जीवन संग्राम किया

अस्तित्व के लिए संघर्ष की समस्या खड़ी कर दी, तब जैविक मितव्यता के कारण बहुविवाही दलों में रहने लगे। एकव्रती होने पर भी पुरुष अपनी बहुविवाही वृत्तियों को दबा नहीं सका। मगर प्रकृति का काम वहीं समाप्त हो जाता है जहां स्त्री को मातृत्व मिल जाता है। `कुट्टिजात विनोदेन` शीर्षक निबंधानुसार संस्कृत के लिए कहा जा सकता है कि जो वैदिक संस्कृत वेदने ०वेदवदें०के वेदों के जमाने में थी वही आज भी वैदिक संस्कृत है। `सांस्कृतिक भूगोल या जीवन व्यवस्था की दृष्टि से हमारे प्राय: तिकोने देश की तीन भुजाएं हैं। कोई भाषा अपने सिर्फ पुरानी होने की दुहाई नहीं देगी। नयी हो सकने का सामर्थ्य ही अधिक महत्व पायेगा। कोई राजभाषा बने या न बने। आज की आवश्यकताओं की चुनौती का सामना हमारी भाषाएं करने लगेंगी तो अपने आप सही रास्ते पर आ जाएगी। राजभाषा की समस्या हल हो जायेगी।`[६१] असल में भाषा की समस्या का हल गणित से मिल सकता है। काल का आयाम अर्थहीन सिद्ध होने से भी मनुष्य के अनस्तित्व की प्रतिज्ञा हो जाती है।

`लेखक के चारों ओर`[६२] शीर्षक निबंधानुसार निबंधकार कहते हैं कि मेरे आसपास जो कुछ घटित होता है उससे मैं अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ हूं। एक आन्दोलन `शहर बनाम अंचल` का था उसे महानगर बनाम कस्बा और कस्बा बनाम देहात का रूप भी दिया जा सकता है। इन मुकदमों में निर्णायक वही हो सकता है जो सभी पक्षों को जानता हो। और महानगर का जीवन केवल महानगर के जीवन की विकृतियां नहीं है, कविता में भी और उपन्यास में भी एक नया चरित्र उभरता तो दीखता है पर अभी उसका कोई `प्रोटोटाईप` या दृष्टान्त पुरुष एक रचना में नहीं मिलेगा जिसका नाम देकर बात स्पष्ट की जा सके। `परंपरा-प्रभाव -प्रक्रिया`[६३] शीर्षक निबंध में निबंधकार की दृष्टि में हिन्दी सदा से आधुनिक रही है। इसी भाषा ने सारे

देश में भारतीय संस्कृति को बनाये रखा, भारतीयता के बोध को जीवित रखा, युद्ध होते ही रहे फिर भी भारतीय संस्कृति नाम की एक चीज़ आगे बढ़ती रही। हिन्दी राष्ट्रीयता के स्वर की मुख्य वाहिका बनी, उठते हुए देश व्यापी आन्दोलन की भाषा बनी। खड़ी बोली हिन्दी काशी की भाषा नहीं थी, पर काशी में भारतीयता की चेतना जाग रही थी, उसकी वाहिका यही हो सकती थी। इसी से आधुनिकता की नयी चेतना इ उसमें आयी। हिन्दी कभी कानून से आगे नहीं बढ़ेगी। इसमें आधुनिकता और भारतीयता के जो संस्कार हैं वे इसे आगे बढ़ायेंगे। पश्चिम का पाठक जब कालिदास से परिचित हुआ, उनके ग्रन्थों के अनुवाद वहां पहुंचे और उनकी चर्चा वहां हुई, तब वहां से कालिदास का और उनके माध्यम से भारतीय संस्कृति का एक नया ही रूप हमारे सामने आया। पश्चिम से हम प्रभावित ही नहीं हुए, हमने उन्हें प्रभावित भी किया है। आधुनिकता और भारतीयता में कोई बुनियादी विरोध नहीं है। यहां पर कविता के बारे में दो प्रश्न उठाए गए हैं पहला है अच्छी नयी कविता की पहचान क्या है? दूसरा है नयी कविता में प्रयुक्त भाषा में संकरता का औचित्य क्या है? कोई भाषा अपने आप नहीं आती, प्रयत्नपूर्वक सीखी जाती है। भाषा की संकरता को ~~पहचननन~~ पहचाना भी तभी जा सकता है जब हमने संस्कारी भाषा सीखी हो। ज्ञान-विज्ञान आदि के सन्दर्भ में रचना प्रक्रिया को समझने में हम भूल करते हैं लेकिन रचना प्रक्रिया और सम्प्रेषण की सारी बात ही थोड़ा विषयान्तर है काव्य से जो ज्ञान हम पाते हैं वह किसी दूसरे ज्ञान विज्ञान से नहीं मिल सकता। वेदों की बात अलग है और अलग रखनी चाहिए। संक्षेप में आज की नयी कविता में अगर कोई तत्व ऐसा है जो ज्ञान-विज्ञान के विस्तार और सृजन प्रक्रिया पर उसके प्रभावों के कारण जटिलतर हो गया है तो उसमें कवि के लिए खतरा है, और लाभ की संभावना भी। शिल्प और लय काव्य का एक आवश्यक गुण है जो निरागद्य है उसकी बात अलग है यद्यपि अच्छा गद्य भी लय सम्पन्न होता है। गद्य की लय पद्य की लय नहीं होती।

स्वर की दृष्टि से हिन्दी में सुमित्रानन्दन पंत की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विशेषरूप से पहले के काव्यों की। पल्लव की भूमिका में उन्होंने जो स्वर विचार किया है उसके कारण वह हिन्दी साहित्य की इतिहास यात्रा में एक मील का पत्थर बन गया है। असल में लय का श्रेष्ठतम हृदय की धड़कन के समान होता है- सहजावस्था में वह अलगित ही रहती है। अगर दार्शनिक अपवाद की बात हो रही हो तो भोक्ता को दृष्टा होने का परिवर्तन क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षण है। वही सृष्टा होने की पहली क्षण है। ऐसा ही क्षण साहित्य का असल 'वर्तमान' है। आज की कविता की भाषा में जो वासनाओं की उग्रता और आक्रामक यौन परितृप्ति का मुहावरा पाया जाता है वह वास्तव में मानसिक स्वतंत्रता या चेतनागत मुक्ति का लक्षण नहीं, वह कुण्ठा की ही प्रतीप अभिव्यक्ति है। आज का कवि मुख्यत: मध्यवर्ग में आता है और मुख्यत: मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता है। कवि का कर्तव्य है जैसे वह समाज के संस्कार से परिचित है वैसे ही अपने संस्कार का परिचय समाज को दे, जितना समाज से मर्यादित हो उतना ही समाज को बदलने में क्रियाशील रहे।

'हिन्दाग्लीयम्'[६४] शीर्षक निबंधानुसार भारत में एक राष्ट्र समाज नहीं, अनेक भाषा समाज है। इसलिए यहीं कोई एक इंडीयन इंग्लिश नहीं हो सकती। यहां पंजाबी इंग्लीश अलग होगी। किसी लेखक की कृति भारतीय कैसे हो सकती है? अगर वह भारत की कोई भाषा नहीं जानता? कुछ भारतीय विदेशों में प्रसिद्ध हो गये हैं- लेकिन ~~लकक~~ उनकी कृतियों की भारत में तो कोई खास प्रतिष्ठा नहीं हुई- भारत में जो अंग्रेजी सीखते हैं उनमें ६० प्रतिशत केवल अंग्रेजी के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। कोई भी दूसरी भाषा जानना हमेशा लाभकर होता है। पश्चिम के साहित्य का भारतीय साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा है? यह प्रश्न पूछा गया है। प्रभाव बहुत पड़ता है: पहले वह केवल अंग्रेजी साहित्य का रहा पर अब उसमें

अधिक वैविध्य है क्योंकि दूसरे कई साहित्यों से भी सम्पर्क हो गया है चाहे यह भी अधिकांशत: अंग्रेजी के माध्यम से ही । यों भी किसी कलाकृति के रूपाकार तत्वों का विचार विश्लेषण आलोचक का काम है । कृतिकार का नहीं । आज हम जहां हैं वहां दीखता है कि भारत की शास्त्रीय परम्परा और पश्चिमी आलोचना सिद्धान्त अलग अलग दोनों नाकाफी है ।

'व्यक्तित्व विधाएं, बाधाएं'[६५] शीर्षक निबंधानुसार सर्जन का काम अविराम नहीं होता, उसमें अंतराल होता है या होना चाहिए। साल में तीन चार महीने साहित्य रचना में लग जाये तो बाकी समय न भी लिखें तो कोई बुराई नहीं है । उपजाऊ जमीन को भी बीच-बीच में परती छोड़ देने से उसकी उर्वराशक्ति बढ़ती ही है । लेखक को लेखन जीवी होने की लाचारी न हो तो इसे उसका सौभाग्य समझना चाहिए। लिखना जब जीने की शर्त बन जाता है तब आदमी की समझौता करने से इन्कार करने की शक्ति सीमित हो जाती है । रचना को आजाद रखने के लिए अधिक अनुकूल परिस्थिति यही है कि रोजी का आधार कुछ दूसरा हो । जब हम जमाने को अच्छा -बुरा कहते हैं तब वास्तव में अपने समाज की या स्वयं अपनी अच्छाई-बुराई जमाने पर मढ़ देते हैं । जमाने सभी अच्छे हैं, और जमाने सभी बुरे हैं, और सभी बीत जाते हैं । आज जब भविष्य वर्तमान बन गया है लेकिन वे कल्पित उपलब्धियां नहीं हुई। तब नया साहित्यिक क्षोभ है । इसी तरह हमारे साहित्य में भी त्रुटियां हैं, तो उसकी उपलब्धियां भी है और समस्याएं भी और उनका निरूपण और विचार हमारी संस्कृति परम्परा और इतिहास के सन्दर्भ में ही हो सकता है । 'स्वाधीन भारत में लेखक'[६६] शीर्षक निबंधानुसार आज का भारतीय लेखक विदेशी साहित्यों के प्रति अत्यन्त सजग है- केवल अंग्रेजी साहित्य के नहीं- सामान्यतया यूरोपीय साहित्यों के प्रति, और भारतीय लेखक अपनी रचनाओं में केवल अपनी परंपरा के संदर्भ में नहीं दूसरी साहित्य परंपराओं के सन्दर्भ में रखकर भी देखना चाहता है ।आधुनिक

उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम से नये संपर्क के कारण हुआ । इस अर्थ में उपन्यास को नयी विधा भी कह सकते हैं । फिर भी इसके पीछे पूर्व की और विशेषतया भारत की एक लम्बी परंपरा रही ।

भाषा शैली

वर्णनात्मक भाषा शैली :

वर्णनात्मक शैली की विशेषता स्थूल एवं स्थिर वस्तुओं का चित्रांकन है। इसमें वस्तु को गतिशील रूप में देखा जाता है । इस शैली में ज्यादातर प्राकृतिक दृश्यों नदी, पर्वत, प्रकृति,प्रदेशों आदि का वर्णन रहता है । निबंधकार ने अपनी सीधी और सरल भाषा में इस शैली का चित्रांकन किया है । यात्रा निबंधों में लेखक अपने पर्यटन काल के अनुभवों का वर्णन करते हैं । इतना ही नहीं इनके निबंधों में मानवीय प्रकृति का भी वर्णन है या प्रकृति का मानवीयकरण इनके निबंधों में देखने को मिलता है । उदाहरण के लिए जैसे कि पर्वत और समुद्र, नदी तट और मरु भूमि- सब अपने अपने ढंग की विशिष्ट मनोवृत्ति पैदा करते हैं। समुद्र शक्तिशाली है, स्वैराचारी है, भयावह है, समुद्र तट की संस्कृतियों के देवता भी वैसे है, सभी पराक्रमी, अशुशेष है, क्रूर है, पर्वत विशाल है, अचल है, समर्थ है पर है न किसी की लेने में न किसी के देने में । परात्पर ब्रह्म की तरह उदासीन है ।[६७] यहां पर पर्वत, समुद्र और संस्कृति तीनों का वर्णन है, इतना ही नहीं इनकी अलग- अलग मनोवृत्तियां यहां पर प्रदर्शित है। समुद्र है जो भय का भाव पैदा करता है- पर्वत अपनी स्थिरता,अचलता का गुण बताता है और उदासीनता का भी । यहां पर मानवीयकरण हुआ है, पर्वत को ब्रह्म की तरह उदासीन बताकर इसके बाद में प्राकृतिक दृश्य चित्रकार की नजरों में कैसा होता है इसका भी लेखक ने बड़ा ही मनोग्राही चित्रण किया है जैसे कि, `किसी एक दृश्य पर अपना ध्यान केन्द्रित कीजिए, अब इसी दृश्य को चित्रकार की आंखों से देखिए, जहां तक दर्शन का प्रश्न है आपकी और

इसकी दृष्टि में कोई भेद नहीं होना चाहिए। लेकिन चित्रकार जब यथार्थ को देखने से आगे चित्र भी तैयार करने लगेगा तब वह सब चीजों को एक साथ देखते हुए भी उन्हें दूसरे ढंग से देख रहा होगा ।[६८] मानव की प्रकृति का भी निबंधकार ने इस प्रकार वर्णन किया है 'प्रकृति ने आरंभ में मानवेतर प्राणियों को एकपत्नी व्रती बनाया था लेकिन जब प्रकृति की उत्पत्ति शीलता ने उसके आगे जीवन संग्राम की अस्तित्वशीलता के लिए संघर्ष की समस्या खड़ी कर दी, तब सहूलियत और जैविक मितव्यता के कारण वे बहुविवाही दलों में रहने लगे ।'[६९] यहां पर प्रकृति के साथ मानव का एकात्मभाव बताया गया है। प्रकृति की वजह से मनुष्य जीवन में आंतरिक परिवर्तनों का भी वर्णन है । प्रकृति के कारण ही मानव की मानसिक स्थिति भी पूरी तरह परिवर्तित हो सकती है । यहां पर एक और उदाहरण जैसे कि- 'बात अनाधन्त प्रक्रिया की है जिसमें ओस की बूंद भी है और घास की पत्ती भी, हमारा ध्यान, हमारी दृष्टि और स्वयं हम भी जिसमें ~~किरण~~ किरण नहीं, सूर्य, चन्द्र, तारामंडल सभी कुछ है। नश्वरता का अर्थ हर चीज मिटती हुई, किसी प्राणवान चीज की प्राणवत्ता में अपना योग दे जाती है जो कुछ है सब मिटता जायगा लेकिन मिट जाने के लिए नहीं, इसीलिए कि दूसरा कुछ बनता जायगा, पुराने आरण्यक, आश्रमिक भी प्रकृति के निकट रहते थे ।[७०] जैसे प्रक्रिया में ओस की बूंद और घास की पत्ती है- वैसे ही हमारा अर्थात् मनुष्य की प्रक्रिया ध्यान, दृष्टि और मनुष्य के व्यक्तित्व में भी इन प्राकृतिक तत्वों जैसे कि सूर्य, चन्द्र, तारा आदि का समन्वय है । दोनों प्रकृति और मनुष्य परस्पर परंपराश्रित है- अर्थात् पुराने लोग भी प्रकृति के सहारे ही चलते थे । एक चीज के नश्वर होते ही दूसरी का अस्तित्व बन जाता है। यहां पर उक्त उदाहरण से प्रकृति का जीवंत रूप हमारी दृष्टि के सामने खड़ा हो जाता है ।

विवरणात्मक भाषा शैली :

उनके यात्रा सम्बंधी निबंधों में विवरणात्मक शैली दिखाई देती है। इस

शैली की प्रमुख विशेषता का रहस्य प्राकृतिक दृश्यों, पर्वत मालाओं और अनेक प्रकार के दृश्यों के अंकन में निहित है। लेखक इसमें अपनी देखी हुई वस्तु और दृश्य की विशेषता का विवरण देता जाता है। अज्ञेय के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने इस शैली को अपनाया तो है किन्तु उसे प्रकृति के आंचल की छाया में ही छोड़ दिया है, जबकि अज्ञेय की यह शैली धर्म, इतिहास, संस्कृति की विस्तृत भूमि पर अपना प्रसार करती चलती है। अज्ञेय एक ऐसे यायावर हैं जिन्होंने शैली की विवरणात्मकता की परिधि में संपूर्ण जीवन को रूपायित किया है। अज्ञेय की विवरणात्मक शैली में एक तत्व और निहित है, वह है भाषा वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवरणों का प्रयोग। उदाहरण के लिए जैसे कि-'ऐतिहासिक काल और उसके बोध ने मानवीय अस्तित्व को इकाइयों में बांट दिया है। पश्चिम के आधुनिक जगत में इतिहास का आयाम था कि पश्चिम के इतिहास में आधुनिक जगत का आयाम अनेक मौलिक सामाजिक परिवर्तनों के साथ हुआ। ईश्वर एक तरह का सनातन बढ़ई है-'विश्वकर्मा' जो अनवरत सर्जना के द्वारा काल और अनुभव के अलग-अलग टुकड़ों को निरन्तर जोड़ता रहता है, इतिहास का जगत इतना जटिल और विखंडित हो जाता है कि उसके तत्वों को किसी एक सार्थक ढांचे में नहीं बैठाया जा सकता। मनुष्य की सर्जनशीलता अनिवार्यतया मानवीयकाल के प्रत्यय के साथ बंधी हुई है।[७१] मानवीय अस्तित्व और ऐतिहासिक काल दोनों का एक दूसरे से लगाव देख सकते हैं। पश्चिम का इतिहास और पश्चिमी आधुनिक जगत का विवरण उक्त उदाहरण में हुआ है इतना ही नहीं ईश्वर को 'विश्वकर्मा' कहकर काल से इसका सम्बंध स्थापित किया है। मनुष्य का सर्जन भी इसी काल से ही जुड़ा हुआ है।'हम हमारी चेतना सर्वदा वर्तमान के बिन्दु पर स्थिर रहती है। डमरू की गति काल की गत्यात्मकता या प्रवाहमयता को प्रति रूपायित करती है और प्रवाह के इस बोध से हमें नैरन्तर्य अथवा सातत्य की प्रतीति होती है।'[७२] यहां पर काल का परिचय दिया गया है, मनुष्य वर्तमान में ही पलता है, कालरूपी डमरू से इस वर्तमान को सरखाया है और बताया गया है कि

मनुष्य इस काल प्रवाह से ही नैरन्तर्य पाता है। यहां पर काल का पूर्णतया विवरण किया गया है। आगे के उदाहरण में इसी काल का आगे विवरण सा लगता है- 'काल के साथ हमारा विचित्र सम्बंध है उसके विषय में भ्रान्तियां लेकर ही हम जीना पसन्द करते हैं। सही पहचान मानो जीवन को कठिनतर बनाती है। सब यही मानते हैं कि वर्तमान हमारे वश में है और अतीत है जो घटित हो चुका है इसीलिए उसे हम बदल नहीं सकते वह फैक्ट है, ऐतिहासिक लक्ष्य है।[73] मनुष्य काल को सही ढंग से पहचान नहीं सकता, मनुष्य वर्तमान को स्वीकार करता है, और अतीत है कि जो घट चुका होता है यह अतीत ऐतिहासिक है। यहां पर पूरे काल अर्थात् वर्तमान, अतीत और भविष्य तीनों का विवरण दिया गया है- सच पूछिये तो घड़ी देखकर समय बताने में भी हम वास्तव में काल की नाप दिक् के आधार पर ही कर रहे होते हैं। घड़ी की दोनों सुइयां जब एक विशेष स्थिति में होती है अर्थात् देश में प्रतिष्ठित होती है, तब दोपहर मानते हैं। इसी प्रकार दोनों सुईयों की आपेक्षिक अवस्थिति एक दूसरी होती है तब तीन बजते हैं, एक फलक पर धातु की दो सुइयों की दिशा अथवा स्थिति क्या है ?'[74] यहां पर काल को दूसरे अर्थ में विवरणीत किया गया है, उपर का उदाहरण यह अतीतवाली बात बताता है जो पुराने काल में दिशाओं के द्वारा काल की नाप की जाती थी, आज भी हम घड़ी को देख कर प्रसमय बताते हैं पर वास्तव में हम दिशा को देखकर ही समय पहचानते हैं, घड़ी की सुईयों के द्वारा हम अलग-अलग समय समझ सकते हैं यह भी इसमें बताया गया है।

<u>विचारात्मक भाषा शैली :</u>

इस शैली के निबंधों में अज्ञेय अपने निजी विचार प्रदर्शित करते हैं वे मैं के माध्यम से अपने विचार व्यक्त करते हैं। वे अपने अनुभवों से अलगाव स्थापित नहीं कर सके कि वे उसे साहित्य की वस्तु बना दे। वे अपने इन अनुभवों को अलग- अलग पात्रों के द्वारा व्यक्त करते हैं। उनके साहित्य में प्रदर्शित उनके विचार गहनचिंतन और

ज्ञान को प्रदर्शित करते हैं । उनकी अभिव्यक्ति केवल एक ही विषय पर नहीं - बल्कि साहित्य के हर एक विषय में हमें देखने को मिलती है । कहीं वे पाश्चात्य को लेकर बात करते हैं तो कहीं दर्शन और यन्त्र विज्ञान का भी सहारा लेते नजर आते हैं । इस तरहदूसरे निबंधकारों की तरह विचारों का दायरा सीमित नहीं है। जब अन्य विषयों पर वे सोचते हैं तो उनका साहित्य से ऐसा गठबन्धन जोडते हैं कि साहित्य के सम्मुख वे अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा नहीं कर पाते । उदाहरण के लिए जैसे कि 'तूफान में नाव को तैरते रखना ही सबसे बड़ा कर्तव्य होता है, लेकिन जब तूफान नहीं होता तब केवल तैरने से ही नाव कहीं नहीं पहुंच जाती। उसे खेना होता है और ठीक दिशा में खेना होता है जिसके लिए नक्शों की आवश्यकता होती है और दिग्दर्शकों की और कर्णधारों और समर्थ क मल्लाहों की ।'[७५] नाव और मनुष्य दोनों के बारे में कुछ विचार प्रदर्शित किए गए हैं, नाव को मनुष्य जीवन के प्रतीक के रूप में बताया गया है । जिस तरह समुद्र में या पानी में तूफान आता है तभी नाव अपने आप ही तैर जाती है, मगर स्थिर पानी में नाव तैरने से ही नहीं मगर खेने से ही आगे बढ़ सकती है । इतना ही नहीं मल्लाह को ठीक दिशा का ज्ञान भी होना चाहिए । जिससे कि नाव उल्टी दिशा में न पहुंच जाय,ठीक ऐसा ही मनुष्य के जीवन में होता है जब उसके जीवन में झंझावात या मुश्केली कठिनाइयां आती है तो उसे उसमें हिम्मत की, बुद्धि से काम लेने की शक्ति होनी चाहिए, चाहे वह कैसा ही गंवार या पढ़ा-लिखा मनुष्य क्यों न हो। बिना ज्ञान और शक्ति के वह अपने मार्ग में ठोकरें ही ठोकरें खायेगा । जैसे नाव को पानी पार करने के लिए अच्छे दिग्दर्शकों, कर्णधारों और मल्लाहों की जरूरत है वैसे ही आदमी को ज्ञान,शक्ति और हिम्मत की आवश्यकता पड़ती है अपने जीवन को बीताने के लिए। आगे निबंधकार ने प्रतीकों के बारे में बताते हुए लिखा है- 'कुछ प्रतीक स्थायी या दीर्घकालिक हैं कुछ केवल तात्कालिक महत्व के हैं, कुछ केवल प्रादेशिक या आंचलिक, कुछ पारम्पारिक हैं इसीलिए एक स्थिरता और गांभीर्य रखते हैं लेकिन सभी में शक्ति है-

निर्माण और कलह के बीज है । प्रतीकों के लिए युद्ध लड़े जाते हैं। जातियां बनती मिटती है । संस्कृतियों के उदय विलय का इतिहास बहुत कुछ उनके पूजित प्रतीकों के विकास का इतिहास होता है ।[७६] उक्त उदाहरण में प्रतीकों के बारे में बताया गया है । प्रतीकों को स्थायी, तात्कालिक महत्व के है ऐसा बताया गया है, कुछ के प्रकार प्रादेशिक या आंचलिक माने गये हैं तो कई प्रतीक प्राकृतिक है और इसीलिए शाश्वत भी माने गए हैं । इन प्रतीकों को अलग-अलग क्षेत्र में भी बांटा गया है । इन प्रतीकों से संस्कृतियों का निर्माण भी हुआ था- तो कई जगह प्रतीकों से कलह के बीज भी बोये गए थे । इसका महत्व यहां पर बताया गया है । इन प्रतीकों के बाद निबंधकार ने आगे रुढि और परम्परा का उदाहरण दिया है । वे कहते हैं- 'रुढ़ि और परम्परा अलग-अलग चीजे हैं, यह उसने समझ लिया है । रूढ़ि वह तोड़ता है और तोडने के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन परम्परा तोड़ी नहीं जाती -बदलने बदली जाती है या आगे बढ़ायी जाती है ऐसा वह मानता है और इसी के लिए प्रयत्नशील है ।[७७] रूढ़ि के बारे में निबंधकार ने बताया है कि वह मनुष्य के द्वारा तोड़ी जाती है, जबकि परम्परा को हम तोड़ नहीं सकते-वह प्राचीनकाल से चली आ रही है और वर्तमान में भी वही स्थित रहती है, इसी परम्परा को मनुष्य आगे बढ़ा सकता है उसे बदल भी सकता है । मगर जिस तरह हम रूढ़ि को तोड़ सकते हैं वैसे परंपरा को नहीं । 'नदी या कूप या जलाशय-सरिता और सरोवर क्या साहित्य देवता वाक् सचमुच सरस्वती ही नहीं है । जो एक साथ सरोवरों को भी और स्रोतों को भी हमारी चेतना में रूपायित करती चलती है ।[७८] काल के दो रूप नदी और जलाशय, सरिता को बनाये हैं काल के इन दोनों ही रूप को हम अच्छी तरह जानते हैं, नदी किसे कहते हैं यह भी मनुष्य जानता है। जलाशय और सरिता दोनों में कितनी गहराई में पानी है यह भी सबको मालूम है । यहां पर साहित्य को देवता माना गया है। यह साहित्य देवता सचमुच सरस्वती को ही यानी सरस्वती साहित्य देवता को कहा गया है । साहित्य में एक साथ ही दोनों का उल्लेख है ।

हास्य-व्यंग्यात्मक भाषा शैली :

`कुट्टिचातन` नाम से `अज्ञेय` ने इस प्रकार के निबंधों को लिखा है। इसमें हास्य-व्यंग्य का ढंग एकदम अलग अज्ञेय का अपना है। असल में अंग्रेजी में जो हास्य-व्यंग्य चेस्टरटन लीकाक के जमाने में था, उसी तरह का कुछ द्राविडी प्राणायाम वाला थोड़ा लंगवाइडिंग किस्म का बिट कुट्टिचातन के पास है। कुट्टिचातन दूर की कौड़ी लाते हैं। उनके यहां हिन्दी के चलताऊ हास्य-व्यंग्य से कहीं भिन्न एक सम्भ्रान्त `ड्राइंग रूम वाला` अंदाज है।`७६ इसलिए इनके इन निबंधों में हल्के और सूक्ष्म व्यंग्य की छाया में अनेक सुन्दर और ललित सन्दर्भों के माध्यम से कई समस्याओं की परतें खुल जाती है। हास्य एवं व्यंग्य की प्रवृत्ति अज्ञेय के निबंधों को सरस और स्मरणीय बनाती है। अज्ञेय स्थितिशीलता, यांत्रिकता और जड़ता पर व्यंग्य करते हैं। उनके व्यंग्य की लपेट में राजनेता, हिन्दी के शोधकर्ता, विभागाध्यक्ष, साहित्यकार, वैज्ञानिक, मात्र संवादी, विचारक, अंग्रेज आदि सभी है। अज्ञेय का इन व्यंग्य हास्यपरक एवं सुरुचि संपन्न है। आज की पूरी सभ्यता या पूरी व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए भी वे विनोदवृत्ति को कायम रखते हैं। किसी भी विषय को लेकर दिक्काल की सीमा का अतिक्रमण करके एक ही सांस में वे कहीं से कहीं पहुंच जाते हैं। वे बायरन की चर्चा से `व्यास`, वाल्मीकि और होमर का उल्लेख करते हैं। बर्नार्ड शॉ के बारे में कुछ कहने के बाद कालिदास, अवनीन्द्र ठाकुर, गालिब और महादेवी वर्मा के बारे में सहज ही कह दिया करते हैं- उदाहरण के लिए जैसे कि-`प्राचीन कवि आज के कवि से अधिक शालीन और शीलवान था क्योंकि आत्म चर्चा कम करता था दूसरी ओर हम प्राचीन साहित्य में इतनी और ऐसी गर्वोक्तियां भी पाते हैं- जिनकी आज का कवि कल्पना भी नहीं स- कर सकता। कितना भी अहम्मन्य होकर भी वह अपने विषय में वैसे दावे नहीं कर सकता।[८०] साहित्य के क्षेत्र विस्तार के साथ-साथ कवि कृतिकार की परिधि में संकोच भी होता गया है, यह परिधि संकोच उसने स्वयं नहीं किया-

उसकी लाचारी से ही हुआ है । उक्त उदाहरण में अज्ञेय जी ने आज के कवि एवं साहित्यकार की प्राचीन कवि से तुलना करते हुए बताया है कि प्राचीन कवि आज के कवि से अधिक शालीन और शीलवान थे साहित्य में वे अपना महत्व कम, मगर साहित्येतर बातें अधिक बुद्धि लड़ाकर गहरे चिंतन से प्रकट करते थे । उनका साहित्य ज्यादा विस्तृत था । आगे उदाहरण है कि-'चार सौ कैदियों के लिए बनी हुई जेल में भरे हुए अठारह सौ कैदियों में से एक जब देखता है कि उसके कुछ साथी भूख हड़ताल करते हैं, छिपकर मेवा-बादाम खाते हैं और ग्लूकोज का शरबत पीते हैं और जेल का डाक्टर उन्हें सहानुभूति देकर भी परेशान है कि उनका वजन घटने की बजाय बढ़ता ही जाता है ।'[८१] यहां पर हास्य उभरता है डाक टर की परेशानी पर । जेल में कैदी जब भूख हड़ताल करते हैं तो वह केवल दिखावे की ही होती है । वे छिपकर मेवा-बादाम खाते हैं और ग्लूकोज का शरबत पीते हैं, उपवास तो कहने का ही रहता है। वे दिन-बदिन कमजोर होने की बजाय शक्तिशाली होते जा रहे हैं दूसरी ओर अपने आपको दिए हुए यह उपवास रूपी शारीरिक कष्ट को नापा जाता है तो उनका शरीर और पुष्ट दीखता है। डाक टर भी उन्हें सहानुभूति तो देता है, मगर परेशानी के साथ । यहां पर अज्ञेय जी ने हास्य का पुट दिया है ।

प्रश्नोत्तर भाषा शैली :

संवाद शैली का दूसरा रूप प्रश्नोत्तर शैली है । प्रश्नोत्तर शैली वह शैली है जिसमें पात्र किसी विशेष के प्रश्न का उत्तर दूसरा पात्र दिया करता है । कई बार ऐसा भी होता कि लेखक स्वयं ही उसका समाधान भी करता जाता है यह प्रश्नोत्तरशैली निबंध के क्षेत्र में सर्वथा एक नयी शैली है । कहने का तात्पर्य यह नहीं कि पहले प्रश्न और उत्तर हुआ ही नहीं करते थे । किन्तु प्रश्नोत्तरों को शैली के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिली । अज्ञेय एक ऐसे कुशल शिल्पी हैं जिन्होंने संवाद से मिलती-जुलती इस शैली को साहित्य में प्रतिष्ठित किया है । इस शैली में उनके कुछ निबंध तो

ऐसे हैं जिनमें दो पात्र होते हैं, एक प्रश्न करता है दूसरा उत्तर देता है। जो इस शैली के नवीन रूप से सम्बंधित है वह यह कि प्रश्न करने की पद्धतियां अज्ञेय के निबंधों में तीन रूप लेकर आई है। पहला रूप वह है जहां अज्ञेय पाठक की किसी शंका के रूप में प्रश्न को खड़ा करते हैं। दूसरा रूप वह जिसमें लेखक पाठक से प्रश्न करता है और तीसरा रूप वह है जहां लेखक स्वयं ही प्रश्न उठाता है। पहले प्रकार की शैली का प्रयोग वहां किया गया है जहां लेखक अनुभव करने लगता है कि 'पाठक को यहां पर किसी प्रकार की शंका हो सकती है। इस प्रवृत्ति को देखकर यह कहा जा सकता है कि लेखक ने संवादों का एक नया रूप प्रस्तुत करते हुए साहित्य में प्रयोगों की दिशा निर्धारित की है। शैली का दूसरा रूप 'जहां राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करते करते लेखक पाठक से प्रश्न करने लगता है। अज्ञेय ने अन्य निबंधों में इसी प्रक्रिया से विषय का प्रतिपादन किया है। 'प्रश्नोत्तर शैली के तीसरे रूप को, जहां लेखक स्वयं प्रश्न करके उत्तर देने लगता है। शैली के इस रूप के विषय में जो महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है वह यह कि जिन प्रश्नों को लेखक स्वयं उठाता है वह उनका उत्तर उसी क्षण बड़े- संक्षेप में देता है। जबकि शैली के अन्य रूपों में उसका उत्तर व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक हो जाता है। यह शैली पाठक के प्रति लेखक के आत्मीय सम्बंध और उत्तरदायित्व की भावना का प्रतीक है। आत्मने पद के शेखर एक प्रश्नोत्तरी, श्लील और अश्लील, और 'कठघरे से' नामक निबंधों में इसी शैली का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए-'कला मितव्ययिता का दूसरा नाम है : जो कुछ भी कहा जाये वह संक्षिप्त तम कला रूप में कहा जाये यही कलाकार का उद्देश्य होता है, आप नीतिशास्त्र और नीति में या नीति और नैतिकता में कोई भेद करते हैं ?' -आप स्वयं मानेंगे- नैतिक रूढ़ियां जिस तेजी से इस युग में टूटी वह बहुत दिनों से नहीं देखी गयी होंगी। जब नैतिकता के पुराने आधार नहीं रहते -तब मानव कैसे नैतिक बना रह सकता है? यह प्रश्न तो कुछ ऐसा है कि कलाकार को ललकारे।'[८२] उक्त उदाहरण की पहली पंक्ति में कला के बारे में बताया है कि कला संक्षिप्तता में होती है। जो कुछ भी कहा जाये वह संक्षिप्त मगर उसमें सब अर्थ समाहित

हो यही कलाकार का उद्देश्य रहता है ठीक वैसे ही आगे नीतिशास्त्र और नीति के बारे में बताया गया है । यहां पर नीति और नैतिकता में क्या भेद है ? यही प्रश्न पूछा गया है । अज्ञेय ने कहा है कि समाज की नैतिक या आचरण सम्बंधी मान्यताएं उसकी इकाईयों की मान्यताओं की औसत होती है- उस औसत के स्तर को जो भी ऊंचा उठाता है, पूरे समाज को उठाता है। मगर जब नैतिकता के पुराने आधार ही नहीं रहते तब मानव नैतिक कैसे बनता है ? यह भी एक ऐसा प्रश्न उठता है जो कलाकार को ललकारता है। यह कि जब आदमी में संचिप्तता की कला ही नहीं रहती तब वह कलाकार कैसे कहलाता है? जो सत्य आदमी को दिखता है उसे अनदेखा करके जब झूठ को मानता चले- तो इस पर क्या समाज बना रहेगा ? आगे के उदाहरण में-`क्या श्लील और अश्लील की कलागत मर्यादा का विचार करते समय वे ही मानदंड लागू होंगे जो जीवनगत नैतिक मर्यादाओं का विचार करते समय लागू होते हैं ? श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है। वह साहित्य का प्रश्न नहीं है । अश्लील का अस्तित्व या उद्भव कहां है ? प्रणय व्यापार में या कहीं और ?`[८३] श्लील और अश्लीलता का प्रश्न यहां पर उठता है जो सामाजिक प्रश्न कहलाता है । जबकि नैतिकता साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। श्लील और अश्लील के प्रश्न को साहित्य के अर्थ में जब सुन्दर और असुंदर कहते हैं तब यह प्रश्न दूसरा ही बन जाता है । जबकि समाज की भाषा में अर्थ होगा देखना- अश्लील नहीं है अधूरा देखना अश्लील है । अश्लीलता उसी को देखती है जो अधूरा देखता है- जैसे कि प्रणयी युगल का एकदूसरे के प्रति नंगापन का, शिशु और माता। ठीक वैसे ही नैतिकता में है, नैतिकता में सत्य को छोड़कर झूठ का सहारा लेना अच्छी बात नहीं है । दूसरा यह कि पूरी बात का अर्थ संचिप्तता में हो वही नैतिकता है ।`आप जो कुछ करते रहे हैं उसमें परस्पर विरोध दिखाई देता रहा है जैसे क्रांतिकारी होना और फिर स्वाधीनता के आंदोलन के समय सेना में भरती होना । इसे आप कैसे संगत मानते हैं? देश के स्वाधीन होने के बाद देशप्रेम के नाम पर आपने क्या किया है ?`[८४] अवसरवादिता तब होती है जब अवसर से लाभ उठाने के लिए सिद्धान्तों

को नाक ताक पर रख दिया जाय । निबंधकार से प्रश्न किया गया है कि क्रान्तिकारी होना और स्वाधीनता के आंदोलन के समय सेना में भरती होना उसमें क्या फर्क है ? विघटनशील शक्तियां आज की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होती और केन्द्रोपसारी प्रवृत्तियां अधिक प्रबल । प्रश्न का दूसरा भाग और भी भ्रान्तिमूलक है ।

उपसंहार :

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी निबंध साहित्य में अद्यावधि साहित्यिक निबंधों की सीमा आलोचनात्मक और सैद्धांतिक विषय तक ही सीमित रही है, पर अज्ञेय के निबंधों में यात्रा, संस्मरण, आत्मचरित आदि विभिन्न प्रकार के विषयों को भी ग्रहण किया गया है । शैली की दृष्टि से उन्होंने सूत्र-व्याख्या शैली, संलाप, वार्तालाप और प्रश्नोत्तर आदि शैलियों का अभिनवरूप से प्रयोग किया है। शुक्ल जी के निबंधों में सूत्र व्याख्या शैली का प्रयोग किसी मूल विषय से आच्छादित है और इस शैली की परंपरा शुक्ल जी के निबंधों में सर्वप्रथम उपलब्ध है जबकि अज्ञेय के निबंधों में इसकी सत्ता पृथक और स्वतंत्र है । इन नयी दिशाओं के अतिरिक्त अज्ञेय ने हिन्दी निबंध को एक और नया- मोड़ दिया है । उपन्यास,कहानी और कविता के लघु रूपों के समान ही हिंदी निबंध भी उनकी कलम से लघु रूप धारण कर चुका है । यह अज्ञेय की नयी उपलब्धि है जिनके माध्यम से हिन्दी निबंधों को एक नया रूप प्राप्त हुआ है । इस प्रकार के निबंधों में भाषा की संयमन शक्ति और शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान लेखक की विशेष प्रवृत्ति है । उनकी भाषा ने गद्य को लघुरूप में भी इतनी ऊंचाई पर प्रतिष्ठित कर रखा है । भाषा का यह स्वरूप उनके संपूर्ण गद्य साहित्य में एक प्राणवत्ता लिए हुए है । वे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत करते हैं। अज्ञेय में युगीन चिंतन की जिस सशक्त अभिव्यक्ति को हिंदी संसार के सामने रखा है वह उनकी प्रयोगशील प्रवृत्ति का ही परिणाम है । उन्होंने प्राचीन को नवीन में जिस प्रकार प्रतिष्ठित किया है अथवा नवीन को प्राचीन में जिस प्रकार अभिव्यक्त किया है व

उनकी प्रयोगात्मक प्रगति का बहुत बड़ा प्रमाण है । उनके कई निबंध संग्रह जैसे कि- सब रंग कुछ राग, आलपाल, भवन्ती आदि में एक अत्यन्त सजग एवं संवेदनशील रचनाकार की आज के परिवेश के प्रति खरी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है जो हमारी चेतना को फंकृत करके हमें क्रियाशील होने की प्रेरणा देती है। इसमें संदेह नहीं कि `अज्ञेय` हिन्दी के एक ऐसे सशक्त निबंधकार हैं जिन्होंने निबंध शिल्प को एक नया आयाम दिया है । उनके निबंधों में विशेष प्रकार का लालित्य है । विशेषत: ऐसे निबंधों में जिन्हें उन्होंने स्वयं निजी या आत्मपरक निबंध कहा है । इतना ही नहीं उन्होंने हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, अंगरेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है । अपेक्षाकृत हल्की मन:स्थिति में लिखे गए आत्मपरक या ललित निबंधों में भी किसी गंभीर तत्व का प्रतिपादन, अज्ञेय की निबंध कला की एक विशेषता है । आज की पूरी सभ्यता या व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए भी वे विनोदवृत्ति को कायम रखते हैं । अज्ञेय ने हिन्दी निबंध साहित्य की विषय परिधि को व्याप्ति और उसके शिल्प को मन से अधिक गहरे स्तरों से व्यक्त करने की क्षमता प्रदान की है । उन्होंने विज्ञान, राजनीति, दर्शन, आधुनिक इतिहास बोध, मनोविज्ञान तथा विश्व साहित्य के अनेक पुराने सन्दर्भों को अपनी भावपरिधि में घेरने का यत्न किया है । दिक्काल का अतिक्रमण करके पूरे ब्रह्माण्ड का परिभ्रमण करने और अपनी इस कभी अन्त न होनेवाली जीवन यात्रा की अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं को निबंध या गद्य विधानों के माध्यम से व्यक्त करने में अज्ञेय बेजोड़ हैं । अनुभव की नवीनता के साथ नित्य नवीन हो जाने वाली उनकी निबंधकला विकास की अनंत संभावनाओं से युक्त है ।

--

सन्दर्भ ग्रन्थ

१-	शब्द, मौन और साहित्य-आलवाल-	सच्चिदानंद	वात्स्यायन 'अज्ञेय'	पृ० १४-१५
२-	आलवाल	,,	,,	पृ० १६
३-	आलवाल	,,	,,	पृ० ३०
४-	वही-	,,	,,	पृ० ४०
५-	वही-	,,	,,	पृ० ४८
६-	वही-	,,	,,	पृ० ६४
७-	वही-	,,	,,	पृ० ८६
८-	वही-	,,	,,	पृ० ९२
९-	वही-	,,	,,	पृ० ९७
१०-	आत्मनेपद	,,	,,	पृ० ४०
११-	वही-	,,	,,	पृ० ४४
१२-	वही-	,,	,,	पृ० ३६
१३-	वही-	,,	,,	पृ० ७३
१४-	वही-	,,	,,	पृ० ८५
१५-	वही-	,,	,,	पृ० १०७
१६-	वही-	,,	,,	पृ० १४२
१७-	वही-	,,	,,	पृ० १५५
१८-	वही-	,,	,,	पृ० २२९
१९-	वही-	,,	,,	पृ० २४२
२०-	वही-	,,	,,	पृ० २३८
२१-	संवत्सर	,,	,,	पृ० १२८
२२-	वही-	,,	,,	पृ० ९९
२३-	वही-	,,	,,	पृ० ६९

२४-	आलवाल	सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'		पृ० ४४
२५-	आत्मनेपद	,,	,,	पृ० १०१
२६-	वही-	,,	,,	पृ० २४६
२७-	संवत्सर	,,	,,	पृ० २३
२८-	वही-	,,	,,	पृ० २६
२९-	आलवाल	,,	,,	पृ० ५७
३०-	वही-	,,	,,	पृ० ४८
३१-	आत्मनेपद	,,	,,	पृ० १७३
३२-	वही-	,,	,,	पृ० २११
३३-	वही-	,,	,,	पृ० १९
३४-	वही-	,,	,,	पृ० २८
३५-	संवत्सर	,,	,,	पृ० १७
३६-	वही-	,,	,,	पृ० ३७
३७-	भवन्ती	,,	,,	पृ० १३
३८-	वही-	,,	,,	पृ० १४
३९-	वही-	,,	,,	पृ० १४
४०-	वही-	,,	,,	पृ० १५
४१-	वही-	,,	,,	पृ० १८
४२-	वही-	,,	,,	पृ० २१
४३-	वही-	,,	,,	पृ० २५
४४-	वही-	,,	,,	पृ० २७
४५-	वही-	,,	,,	पृ० २९
४६-	वही-	,,	,,	पृ० ३१
४७-	वही-	,,	,,	पृ० ४२

४८-	भवन्ती	सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	पृ० ५३
४९-	वही-	,, ,,	पृ० ६२
५०-	वही-	,, ,,	पृ० ७०
५१-	वही-	,, ,,	पृ० ७४
५२-	वही-	,, ,,	पृ०८८
५३-	वही-	,, ,,	पृ०९१
५४-	वही-	,, ,,	पृ०९९
५५-	वही-	,, ,,	पृ०११०
५६-	वही-	,, ,,	पृ०११३
५७-	लिखि कागद कोरे	,, ,,	पृ०११
५८-	,, ,,	,, ,,	पृ०२३
५९-	वही-	,, ,,	पृ०३६
६०-	वही-	,, ,,	पृ०३९
६१-	कुट्टिटजात विनोदेन - लिखि कागद कोरे	,, ,,	पृ० ५९
६२-	लिखि कागद कोरे	,, ,,	पृ०६३
६३-	वही-	,, ,,	पृ०६७
६४-	वही-	,, ,,	पृ०८९
६५-	वही-	,, ,,	पृ०१०१
६६-	वही-	,, ,,	पृ०११४
६७-	भवन्ती	,, ,,	पृ०४४
६८-	सम्प्रेषण काल भाषा का क्रम संवत्सर	,, ,,	पृ० १२९
६९-	हौआ प्रकरण-२-लिखि कागद कोरे	- अज्ञेय	पृ०४२
७०-	संवत्सर- संवत्सर-	सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	पृ० २५

७१- शाश्वतकाल इतिकास का क्रम-संवत्सर सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' पृ० ६८
७२- मानवीय काल अनुभव का क्रम-संवत्सर ,, ,, पृ० ७८
७३- भवन्ती ,, ,, पृ० ४०
७४- शाश्वतकाल इतिकास का क्रम-संवत्सर ,, ,, पृ० ४६
७५- हिन्दी पाठक के नाम-आत्मनेपद ,, ,, पृ० १३४
७६- मानव प्रतीक स्रष्टा-आलवाल ,, ,, पृ० ६६
७७- लिखि कागद कोरे ,, ,, पृ० ३०
७८- दिग्वहीन क्रमातीत भूमिकाएं-संवत्सर ,, ,, पृ० १६
७९- कल्पना- प्रभाकर माचवे- दिसम्बर १९६९ पृ० ३१
८०- कवि कर्म परिधि माध्यम मर्यादा-आत्मनेपद, सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' पृ० १५५
८१- जीवन का रस-आत्मनेपद ,, ,, पृ० १४९
८२- शेखर एक प्रश्नोत्तरी-आत्मनेपद ,, ,, पृ०
८३- श्लील और अश्लील -आत्मनेपद ,, ,, पृ०
८४- कठघरे से -आत्मनेपद ,, ,, पृ० १९५